सिद्धसिद्धान्तपद्धति

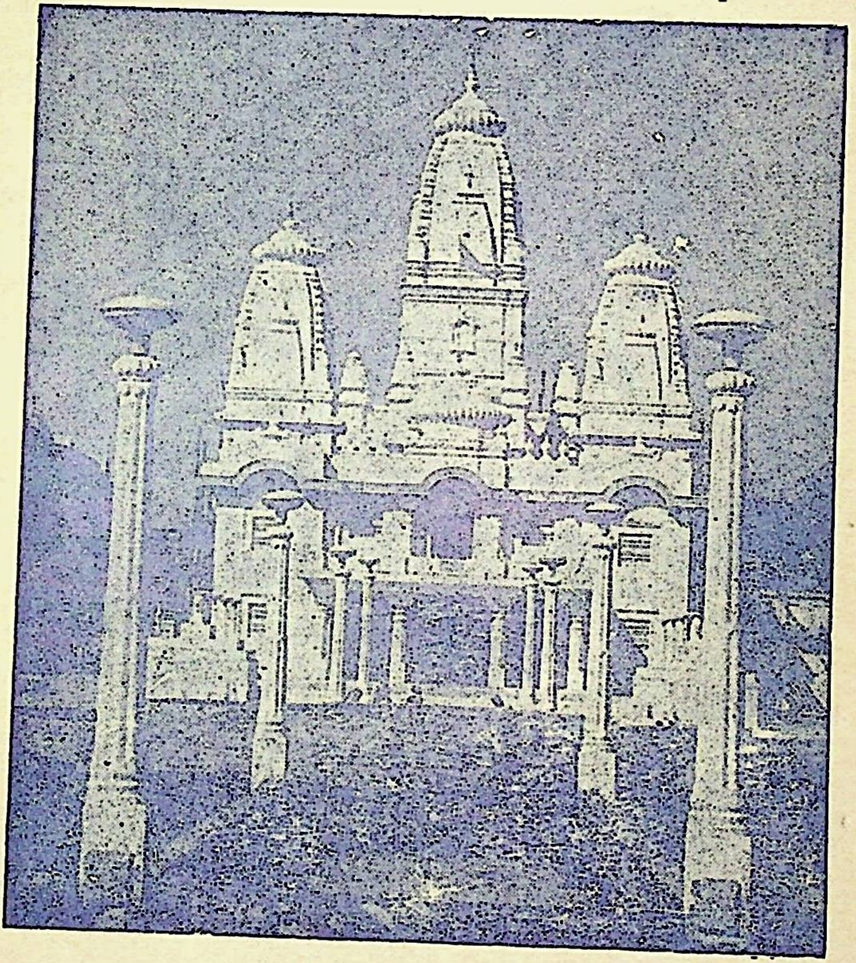

गोरखनाथ-मन्दिर

गोरखपुर

अखण्ड (परमात्म) ज्योति

[श्रीगोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर के गर्भगृह में गोरखनाथजी द्वारा त्रेता युग से प्रज्वलित]

गणपति-स्तवन

विद्धात्वर्थनिचयं भक्तानुग्रहमूर्तिमत् ।
स्मरानन्दभरं चेतो गणपत्यभिधं महः ।।

भक्तों के प्रति मूर्तिमान् अनुग्रह, स्मरण मात्र से ही आनन्दित चित्तवाला गणपतिनामक (परमात्म) तेज हमें अर्थसिद्धि प्रदान करे, धर्म, अर्थ तथा काम और मोक्ष से सम्पन्न करे ।

[शिवगोरक्ष : सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ११५]

ॐ

अलख निरञ्जन

सिद्धसिद्धान्तपद्धति

प्रणेता

शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ

टीकाकार

तथा

सम्पादक

रामलाल श्रीवास्तव

गोरखनाथ-मन्दिर

गोरखपुर

प्रकाशक :

श्रीगोरखनाथ-मन्दिर

गोरखपुर

पहला संस्करण

केवल २००० प्रतियाँ

सम्वत् २०३८ वि०

मूल्य ८ रुपये

प्राप्ति-स्थान :

गोरखनाथ-मन्दिर

गोरखपुर

मुद्रक :

दी इउरेका प्रिन्टिग वर्क्स (प्रा०) लिमिटेड

गीताप्रस रोड, गोरखपुर ।

फोन : ५३१०

शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ

श्रीगोरक्षनाथो विजयतेतराम्

अनुक्रम

विषय			पृष्ठ संख्या
पहला उपदेश			**१—३२**
अव्यक्त-अनाम परब्रह्म	...	...	२
परब्रह्म की निजा आदि पाँच शक्ति और उनके गुण		...	३
परपिण्डोत्पत्ति	...	...	७
अनादि पिण्ड के पाँच तत्व और पचीस गुण		...	८
महासाकार आद्य पिण्डपुरुष की उत्पत्ति, उसके पाँच तत्व और पचीस गुण	...	...	१०
महासाकार पिण्ड की आठ मूर्ति	...	...	१४
नरनारीरूप प्रकृतिपिण्ड की उत्पत्ति और पंचभूतों के पचीस गुण			१४
अन्तःकरणपंचक	...	..	१६
कुलपंचक	...	...	१६
व्यक्तिपंचक और उसके पचीस गुण	...	...	२२
प्रत्यक्षकरणपंचक	...	...	२४
दस प्रधान नाड़ी और उनके स्थान	...	...	२७
दस वायु (प्राण) और उनके स्थान	...	...	२८
जीवात्मा के स्थूल शरीर का उत्पत्ति-क्रम		...	३०
दूसरा उपदेश			**३३—९१**
[पिण्डविचार]			
नौ चक्र-वर्णन	...	...	३३
सोलह आधार	...	...	५०
तीन लक्ष्य	...	...	६३
व्योमपंचक	...	...	६७
अष्टांगयोग	...	...	६८

विषय पृष्ठ संख्या

तीसरा उपदेश ९२—१०२

[पिण्डसंविंत्ति]

सप्त पाताल तथा अनेक लोकादि ९३
चार वर्ण आदि ९७
सप्तद्वीप तथा सप्त समुद्र ९९
नव खण्ड ९९
अष्टकुल पर्वत १००
नौ नदी तथा अन्य उपनदियाँ १००
नक्षत्रादि १०१
स्वर्ग–नरक–मुक्ति १०२

चौथा उपदेश १०३—११७

[पिण्डाधार]

कुलाकुलसामरस्य १०४
कुलशक्ति १०४
आज्ञावती पराशक्ति १०६
अनन्त शक्तिमान् १०७
आकाशादि की कुण्डलिनी से उत्पत्ति ११०
मध्याशक्तिप्रबोधन १११
स्थूल-सूक्ष्म कुण्डलिनी ११४

पाँचवां उपदेश ११८—१४२

[पिण्डपदसामरस्य]

परम पद ११८
गुरु द्वारा सन्मार्गदर्शन १२०
गुरु और सामरस्य १२१
निरुत्थान-प्राप्ति का उपाय १२२
पिण्डसिद्धि का वेष १२४
परमपद की प्राप्ति १२६
योगमार्ग १२६
सहजसंयमसोपायाद्वैतज्ञान १२८

विषय पृष्ठ संख्या

सद्गुरु का सेवन १३०
गुरुकुलसन्तान १३२
गुरु की प्रसन्नता और परमपद १३७

छठा उपदेश १४३—१७४

[अवधूत योगी]

अवधूत के वेष और चिह्न १४५
अवधूत की अवस्था (स्थिति) १४७
अवधूत की सर्वस्वरूपता १४६
सर्वसिद्धान्तदर्शनसमन्वयी १५६
सिद्धमत का आश्रय १६०
निरुत्थानरूप परमपद १६२
आदेश का स्वरूप १६६
सिद्धसिद्धान्तरूप योगशास्त्र १७१

चित्रानुक्रम :

अखण्ड परमात्म-ज्योति
शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ
गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ

आशीर्वचन

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति की गरिमा)

परमकरुणामय भगवान् शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथजी ने देववाणी में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की रचना कर अलखनिरंजन के साक्षात्कार का राजपथ प्रशस्त किया है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में नाथयोग पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। इस मौलिक योगवाङ्मय में शैवयोग के प्रतिपादन के साथ-ही-साथ निगमागम-पुराणस्मृतिसम्मत योगाचार, वैराग्य और मोक्ष के सैद्धान्तिक और प्रक्रियात्मक—साधनात्मक पक्षों का समीचीन समन्वय भी बोधगम्य शैली में निरूपित है, जिसका रसास्वादन वे ही कर सकते हैं, जो योगविज्ञान—हठयोगविद्या के द्वारा परम-साक्षात्कार की सिद्धि में अनुभवी और निष्णात हैं। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' को हमारे सिद्धामृतमार्ग अथवा नाथ-सम्प्रदाय में अपूर्व मान्यता प्राप्त है और योगि-सम्प्रदाय में ही नहीं, दार्शनिकों और विद्वानों में भी इस योगग्रंथ के प्रति यथेष्ट आदरभाव और श्रद्धा का दर्शन होता है। लगभग दो सौ साल पहले काशी के महान् योगदार्शनिक महामति बलभद्र ने 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' के रूप में 'सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति' के सारांश का स्वरचित संस्कृत-श्लोकों में संग्रह किया था। महायोगी गोरखनाथजी की प्रशस्ति में बलभद्र ने कहा था—

यत्कारुण्यविलोकनादपि भवेच्चित्तर्दविश्रमः पारदः।
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौ चेतोऽस्तुमग्नं गुरौ॥
(सिद्धसिद्धान्तसंग्रह ५। ३६)

जिनके कृपामय दृष्टिपात से चित्त शान्त और विषयों में अनासक्त हो जाता है, उन करुणासुधारसनिधि गुरु (गोरखनाथ) में मेरा मन निमग्न हो जाय। बलभद्र ने अपने ग्रंथ में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' का ज्ञानामृत भर दिया है।

गोरखनाथजी महान् योगाचार्य थे, इसलिये 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में उनके वचन उपदेश के रूप में उपलब्ध होते हैं। उन्होंने इस तरह इस योगग्रंथ के छः उपदेशों में महायोगज्ञानामृत का वर्णन किया था। गोरखनाथजी ने निरूपण किया

है कि किस तरह एक गत्यात्मक आध्यात्मिक परमसत्य से वैविध्यपूर्ण तथा अनेक भौतिक पदार्थों से युक्त विश्वप्रपंच उद्भूत है तथा इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण है कि किस प्रकार दिक्कालनिरपेक्ष भेदातीत, शाश्वत, परमात्मा अलखनिरंजन परम-शिव अपनी स्वरूपभूत शक्ति के द्वारा दिक्कालपरिसीमित वैविध्यपूर्ण ब्रह्माण्ड एवं असंख्य व्यष्टिपिण्डों के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसके आरम्भ में अजातवाद और तत्पश्चात् सत्कार्यवाद की रीति से आदिनाथ की सत्ता से पृथक् जगत्, अण्ड और पिण्ड की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। अण्ड-पिण्ड की उत्पत्ति प्रमाण सिद्ध नहीं है, क्योंकि आदिनाथ अलखनिरंजन की सत्ता से भिन्न जगत् की सत्ता नहीं है। नाथयोग में अजातवाद का ही सिद्धान्त यद्यपि मान्य है तथापि इस मान्यता की पुष्टि के लिये शरीर में ही सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड और जीवन्मुक्त अमरकाय योगियों ने परमात्मा की अखण्डता, अभिन्नता और निरंजनता (निर्मलता) का बोध प्राप्त किया। सत्कार्यवाद अथवा परिणामवाद पर यहीं अजातवाद की विजय है। जब तक योगी अथवा अध्यात्मविज्ञानी की परमात्म-स्वरूप में स्थिति और सम्पूर्ण निष्ठा नहीं हो जाती है, तब तक जन्म-मरण का दुःख नहीं छूट सकता और साधक की दृष्टि में विश्वप्रपंच की अहंकार के स्तर पर रागद्वेषादि द्वन्द्वात्मक मल या अविद्या के धरातल पर सत्ता बनी रहेगी। अण्डपिण्ड के रूप का ज्ञान हो जाने पर उसकी आधारशिला पारमार्थिक सत्ता का जीवात्मा-साधक को बोध हो जाना सरल हो जाता है। यह निर्विवाद है कि इस विश्व-प्रपंच की गत्यात्मकता के मूलकारण के रूप में कोई स्वयंसत्य, स्वयंप्रकाशितसत्ता है, जो हमारी इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अतीन्द्रिय, अतिमानसिक और अतिबौद्धिक स्तर पर अभिव्यक्त है। गोरखनाथजी ने इस शाश्वत चेतना को परासंवित् कहा है, यही परमसत्ता है। उन्होंने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के छः उपदेशों में पिण्डोत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपदसमरसभाव और नित्यावधूतलक्षण आदि का निरूपण कर नित्यनिर्विकार परमसत्ता को ही जीवात्मा-योगसाधक के लिये प्रतिपाद्य स्वीकार कर उसके स्वरूपबोध अथवा अन्तर्लय की पद्धति सुनिश्चित की है।

समष्टिब्रह्म, व्यष्टिब्रह्म, विशिष्टब्रह्म, सभी का मूल निरंजनता है, निरंशता, निस्पन्दता और अभिन्नता तथा निश्चयता है। शिवगोरक्ष की दृष्टि में अद्वैत आत्मा (परमात्मा) अपनी निजाशक्ति से युक्त होकर स्वरूपतः अभिन्न है। निजस्वरूप में निहित शक्ति की जागृति के स्तर पर परमात्मा शाश्वत, अनन्त परपिण्ड है।

शक्तिचक्रक्रमेणोत्थोजातः पिण्डपरः शिवः ।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति १ । ६)

यह परब्रह्मशिव गोरखनाथजी के योगसिद्धान्त के अनुसार अपरंपर, परमपद, शून्य, निरंजन परमात्मा है ।

अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति १ । १७)

परब्रह्मशून्य–स्वसत्तामात्र है, निर्विकार ही निरंजन है । अपरम्पर, परमपद, शून्यनिरंजन परमात्मा अजन्मा और परमानन्दस्वरूप है । निरंजन ब्रह्म सत्य है, सहज है, सर्वगत है । यह परमानन्द परमात्मा सदा अपने स्वरूप में सुख का अनुभव करता है, ऐसा भाव, तत्वदर्शन अथवा योगरसामृत सिद्धसिद्धान्तपद्धति में परिलक्षित है । पांचभौतिक शरीर जन्म लेने और मृत्युग्रस्त होने का धरातल है । जीवात्मा को शरीर धारण कर जन्म लेना पड़ता है और शरीर के जीर्ण होने पर अथवा दैवयोग से उसमें से यह प्राण के रूप में बाहर निकल कर अपनी स्वरूपसत्ता में अन्तर्लीन हो जाता है । प्राण या जीवन एक उन्नत स्तर से शरीर में उतरता है, जड़ जगत् में प्राण की ही शक्ति सृजन और विनाश की भौतिक प्रक्रियाओं का सजीव आकारों में रूपान्तर करती है ।

गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में हठयोग की साधन-प्रक्रिया का मर्म स्पष्ट किया है । हठयोग की साधना वास्तव में प्राणसाधना है और प्राणायाम की सिद्धि से ही यह फलवती होती है ।

पवन हीं जोग पवन हीं भोग, पवन हीं हरै छतीसौं रोग ।
या पवन कोई जांणै भेव । सो आपै करता आपै देव ।।
(गोरखबानी सबदी १४७)

पवन—प्राण के संयम से ही नाड़ियों का मल-शोधन होता है, शरीर की शक्ति बनी रहती है, मन संयमित और स्थिर रहता है । प्राण के चेतना में स्थिर हो जाने पर योगी सारी सिद्धियों को वश में कर लेता है ।

हमारे शरीर में असंख्य नाड़ियों का जाल फैला हुआ है । नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान है मूलकन्द, मूलकन्द से उत्पन्न बहत्तर हजार नाड़ियों में दस प्रमुख हैं,

इनमें इड़ा-पिंगला, चन्द्र-सूर्य, नाड़ी कहलाती हैं, ये बाय और दायें नासारन्ध्ररूपी द्वारों से बहती हैं। इनके मध्य में सुषुम्ना ब्रह्माण्ड-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त बहती है। मूलकन्द से ही निकल कर सरस्वती, पूषा, अलम्बुषा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू और शंखिनी नाड़ी बहती हैं। हमारे शरीर में दस वायु की स्थिति कही गयी है, हृदय में प्राणवायु उच्छ्वास और नि.श्वास रूप में हकार तथा सकार ध्वनि करती आती-जाती है। यही हठयोग की विद्या की आधारशिला है। हकार सूर्य है, ठकार चन्द्रमा है। सूर्य-चन्द्रमा का योग ही गोरखनाथजी की दृष्टि में हठयोग है।

हकार: कीर्तित: सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्हठयोगो निगद्यते ॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति १। ६९)

गोरखनाथजी ने जीव की शरीर में उत्पत्ति के सम्बन्ध में यथार्थ वर्णन करते हुए कहा है कि स्त्री-पुरुष के संगम के परिणामस्वरूप रज और वीर्य के स्त्री की योनि में ऐक्य से जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। नौवें मास में यह जीवात्मा सत्यज्ञानयुक्त होता है और दसवें मास में योनिद्वार के स्पर्श से अज्ञानी शिशु के रूप में आत्मोद्धार के लिये तड़पता हुआ जन्म लेता है। उसे संसार में आते ही सत्यज्ञान, स्वरूपबोध की विस्मृति हो जाती है।

परमशिव के कुल और अकुल रूप की उपासना पर प्रकाश डालते हुए गोरखनाथजीने कहा है कि विशिष्ट चेतन, शक्तियुक्त शिव की उपासना ही कुलाचार है, इस कुलाचार में निष्काम कर्म में निष्ठा रहती है। अकुल अवस्था में परिपक्व योग ही शीर्षस्थानीय कहा गया है। अकुल में, स्वरूपानुभवस्वरूप परमात्मबोध में ही चित्त की लयावस्था रहती है। आदिनाथ अकुल और कुल, दोनों अवस्थाओं से परे हैं। महाप्रलय में कुल (व्यक्तावस्था) और अकुल (अव्यक्तावस्था) दोनों का अभाव रहता है। स्वयंज्योति, सच्चिदानन्दमूर्ति, एक मात्र सत्स्वरूप शाश्वत कैवल्य ही अभिव्यक्त रहता है। यही चरम सत्ता है। यही समस्त सत्ताओं की सत्ता है, समस्त अस्तित्वों का सत्य है, समस्त व्यावहारिक अनुभवों का प्रकाशक और ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का निर्माता है। यह भावाभाव-विनिर्मुक्त है, नाशोत्पत्तिविवर्जित और सर्वसंकल्पनातीत है। यही आदिनाथ का परब्रह्मस्वरूप है। नाथयोग के सिद्धान्त के अनुरूप अपने स्वरूप में सन्निहित करनेवाली शिव से शाश्वत संयोगमयी शक्ति ही परमसत्ता है। शक्ति शिव में और

शिव शक्ति में सन्निहित हैं। गोरखनाथजी ने परमात्मा के स्वरूप-दिग्दर्शन में मत व्यक्त किया है :—

अनामेति स्वयमनादिसिद्धं एकमेवानादिनिधनं सिद्धसिद्धान्त-प्रसिद्धं तस्येच्छामात्र धर्माधर्मिणो निजाशक्तिः प्रसिद्धा।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति १।५)

यह परमेश्वर नाम से परे है, स्वयंज्योति, अनादिसिद्ध है, यह उत्पत्ति, विनाश, सृजन और संहार से सर्वथा अतीत, अविनाशी है। यह अपनी चैतन्य-शक्ति-सच्चिदानन्दस्वरूपिणी परमेश्वरी शक्ति से सबकी उत्पत्ति और संहार का कर्ता अथवा कारण है। यह चैतन्यस्वरूप परब्रह्म सिद्धसिद्धान्त में प्रतिपाद्य अथवा ध्येय है। इसकी निजाशक्ति ही संकल्पशक्ति अथवा इच्छाशक्ति है। इसी शक्ति से यह निग्रहानुग्रहधर्मी है। निग्रहशक्ति कर्म का फल देती है, अनुग्रहशक्ति स्वरूप प्रदान करती है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में गोरखनाथजी ने निजाशक्ति, पराशक्ति अपराशक्ति, सूक्ष्मासक्ति और कुण्डलिनी महाशक्ति का सांकेतिक निरूपण करते हुए उनके कार्य और रूप का विवेचन प्रस्तुत किया। जो पुरुष माया और अज्ञान से विमूढ़ होकर वैषयिक भोगों में आबद्ध रहता है, उसके लिये जगज्जननी कुण्ड-लिनी बन्धनकारिणी होती है, पर जो मुद्राबन्ध, चक्रभेदन और प्राणायाम के द्वारा इस महाशक्ति को जगा लेता है, उसे यह मोक्ष प्रदान करती है; इस 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ग्रंथ में हठयोग का अक्षय भाण्डार है। जिस तरह पांचभौतिक पिण्ड का अधिष्ठाता जीवात्मा होता है, उस तरह परपिण्ड का अधिष्ठाता सगुण-साकाररूप में अभिव्यक्त निरंजन, निराकार, चिन्मय, सच्चिदानन्दस्वरूप शिव होता है, ईश्वर होता है, निराकार की साकार अभिव्यक्ति का यही यौगिक रहस्य है कि पंचशक्तियों, निजा, परा, अपरा सूक्ष्मा और कुण्डलिनी में स्वरूपत: अन्तर्लीन परब्रह्म परमेश्वर इन्हीं के गुणों में आत्मप्रकाशन करता है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में यौगिक दृष्टि से पिण्डविचार अन्तर्दर्शन और ध्यान पर आधारित है। हमारा शरीर शिवशक्ति की अभिव्यक्तिका पवित्र माध्यम है और इसमें लोकलोकान्तर, समस्त ब्रह्माण्ड का रहस्य भरा पड़ा है। हमारे शरीर में नवचक्र, सोलह आधार, त्रिलक्ष्य और पंचव्योम स्थित हैं। गोरखनाथजी ने अपनी रचना 'गोरक्षशतक' में कहा है कि जिस योगी को इनका ज्ञान नहीं है, वह नाममात्र के लिये योगी है। हमारे शरीर में सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्ममार्ग के रूप में प्रसिद्ध है। जीवात्मारूपी साधक अथवा योगी के लिये इस

ब्रह्ममार्ग में स्थित नौचक्र (गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में नवचक्र और 'गोरक्षशतक' आदि में षट्चक्र बताये हैं) ही विश्रामस्थल स्वीकार किये गये हैं। सभी चक्रों का भेदन होने पर सुषुम्ना का प्रवाह सीधा हो जाता है और जीवात्मा (योगसाधक) ब्रह्मरन्ध्र में प्राणसिद्धि के सहारे शिवस्वरूप हो जाता है। वह व्यावहारिक अथवा लोकचेतना से ऊपर उठकर समाधिस्तर पर पारमार्थिक चेतना में विहार करता है। इन चक्रों के भेदन से महाकुण्डलिनीका प्रबोधन होता है। कुण्डलिनीशक्ति की अभिव्यक्ति का स्थान मूलाधार है। यह शक्ति साक्षात् गौरीस्वरूपिणी है। इसके ध्यान से साधक की मनोकामनाएँ पूरी होती हैं। स्वाधिष्ठानचक्र में गोरखनाथजी ने प्रवालांकुर-मूँगे के अग्र भाग की तरह लाल रंग के शिवलिंग की स्थिति बतायी है। योगसाधक प्रबुद्ध कुण्डलिनी द्वारा आलिंगित शिवलिंग का ध्यान कर योगशक्ति प्राप्त करता है। नाभिचक्र अथवा मणिपूर में कुण्डलिनी मध्यमा शक्ति कही जाती है। इसके ध्यान से सात्विक वृत्तियाँ प्रवाहित होती हैं। कुण्डलिनी–जागरण के ही सन्दर्भ में हृदय-चक्र अथवा अनाहत चक्र में स्थित लिंग की आकारवाली ज्योति का नाम गोरखनाथजी ने हंसकला कहा है। इसके ध्यान से इन्द्रियाँ वश में होती हैं और कंठचक्र अथवा विशुद्धचक्र में ज्योतिर्मयी सुषुम्ना को अनाहतकला नाम दिया गया है। इसकी उपासना से जल, स्थल, पाषाण में प्रतिघात नहीं होता, संकल्प की सिद्धि होती है। योगी जागतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करता है। वह ॐकार परमेश्वर के नादरूप का साक्षात्कार कर लेता है। आज्ञाचक्र अथवा भ्रूचक्र में सुषुम्ना अंगुष्ठमात्र दीपशिखाकार हो जाती है, यही ज्ञाननेत्र है। इसका ध्यान करने से योगी शाश्वत चैतन्य-ज्योति से एकाकार हो जाता है।

सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यममङ्गुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेत् वाचां सिद्धिर्भवति।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति २। ७)

गोरखनाथजी ने आठवें चक्र को निर्वाण-चक्र कहा है और नौवें को आकाशचक्र कहा है। दोनों के ध्यान से क्रमशः मोक्ष और अलख-निरंजन में स्वरूप-स्थिति प्राप्त होती है। इस तरह नौ चक्रों के भेदन द्वारा सहज स्वरूप की प्राप्ति होती है, ब्रह्ममार्ग से जीवात्मा की यात्रा पूरी होती है। यही शाश्वत विश्राम कहा गया है। गोरखनाथजी की योगदृष्टि में जीवात्मा का यही शाश्वत विश्राम ध्येय है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में महायोगी गोरखनाथजी ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा अमित मार्मिक रूप में अष्टांगयोग का वर्णन किया है, जो बहुत लाभप्रद है। यद्यपि 'गोरक्षशतक' आदि में षडंगयोग का ही विवेचन है तथापि 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में अष्टांगयोग के निरूपण में समग्रयोगदर्शन का स्वारस्य भर दिया गया है। गोरखनाथजी ने कहा है कि सभी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर शान्ति प्राप्त करना ही यम है। मन की समस्त वृत्तियों का नियंत्रण नियम है। यथालाभ सन्तोष करना चाहिये। गुरु के शरणागत होकर रहना चाहिये। चेतनमात्र आत्मा में (स्वरूप में) स्थिति ही आसन है। शरीर में प्राण की स्थिरता ही प्राणायाम है। देहरूपी रथ के स्वामी रथी आत्मा की अश्वरूपी इन्द्रियों को उनके विषयों से प्रत्याहारित करना प्रत्याहार है। समस्त जगत् के प्राणी और पदार्थों को आत्मरूप देखना, उनमें आत्मा की दृढ़ धारणा करना धारणा है। परब्रह्म में अभिन्न आत्मा का वायुरहित दीप के समान निश्चल नित्यप्रकाशरूप से ध्यान करना चाहिये। यही निरंजन ध्यान है। गोरखनाथजी ने अपने शिष्टपुराण लघु ग्रन्थ में कहा है—'निरंजन उपरान्ति ध्यान नाहीं'। सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अलख-निरंजन ही ध्येय है। अखण्ड आत्मस्वरूप में संस्थिति ही उन्मनी अथवा सहज समाधि है। जब तक समाधि में ध्याता, ध्येय, ध्यान की स्थिति है, तब तक सबीज समाधि है, केवल ध्येयाकार वृत्ति का होना निर्बीज समाधि है। गोरखनाथजी के वचन हैं :—

यम इति उपशमः सर्वेन्द्रियजय आहारनिद्राशीतवातातपजयश्चैवं शनैः शनैः साधयेत्। नियम इति मनोवृत्तिनां नियमनमित्येकान्तबासो निःसङ्गतौदासीन्यं यथाप्राप्तिसन्तुष्टिर्वैरस्यं गुरुचरणावरूढ़त्वमिति। आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता। प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता। प्रत्याहारमिति चैतन्यतुरङ्गाणां प्रत्याहरणं विकारग्रसनोत्पन्नविकारस्यापि निवृत्तिर्निर्भातीति प्रत्याहारलक्षणम्। धारणेति सा बाह्याभ्यन्तर एकमेवनिजतत्वस्वरूपमेवान्तः करणेन साधयेद् यथा यद्यदुत्पद्यते तत्तन्निराकारे धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव संधारयेदिति धारणालक्षणम्। अथध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूपमेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यानलक्षणम्। सर्वतत्वानां समावस्था निरुद्यमत्त्वमनायासस्थितिमत्वमिति समाधिलक्षणम्।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति २। ३२-३६)

भगवान् गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में योगसिद्धि का स्वरूप परमात्म साक्षात्कार बताया है, अष्टांगयोग का यही फल है। नाथयोग का सैद्धान्तिक आधार तथा भगवान् गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित सिद्धामृतमार्ग के महायोगज्ञान का आधार है व्यष्टिशरीर (पिण्ड) में अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि अथवा तात्विक व्यापकता की अपरोक्षानुभूति। कहा गया है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वही हमारे व्यष्टिपिण्ड में विद्यमान है, पर वह जड़ विज्ञान के अन्तर्गत प्राकृतिक शक्ति का समन्वयात्मक विश्लेषण नहीं है, यह तो आत्मा का अथवा चिन्मयसच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मपरमात्मा का स्वरूपगत तात्विक समत्ववोध है, सर्वव्यापक है। गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की रचना में यह सिद्ध किया है कि हमारा व्यष्टि-शरीर मात्र भौतिक शरीर नहीं है, यद्यपि यह भौतिक रूप में पंचतत्वों से आकारित है तथापि यह एक आध्यात्मिक तत्व में अभिव्यक्त है। यह आध्यात्मिकतत्व शरीर—व्यष्टि-पिण्ड को अपनी पाँच भौतिक सीमाओं और बन्धनों से मुक्त होने की सामर्थ्य प्रदान करने में पूर्णक्षम और शक्तिमान् है।

पिण्डमध्ये चराचरं योजानाति स योगी पिण्डसंवित्तिर्भवति।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३।१)

इस व्यष्टिशरीर में ही जो योगी सकल चराचर जगत् को व्याप्त जानता है, वह पिण्डसंवित्ति होता है। सृष्टि दो तरह की है, व्यष्टिरूप, समष्टिरूप। व्यष्टि-सृष्टि में अन्तःकरणाभिमानी अस्मदादि जीव हैं और समष्टि-सृष्टि—ब्रह्माण्ड में विराट् हिरण्यगर्भादि की अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्माण्ड अधिक चिरस्थायी स्वीकार किया गया है, यह अस्मदादि शरीरों का कारण और नियन्ता है, व्यष्टिशरीर क्षणभंगुर और विनश्वर है। इस व्यष्टिपिण्ड में जीवात्मा आता है और इसका त्याग कर निकल जाता है। जीव व्यष्टि-शरीर में कर्मबन्धन में पड़ता है और योगाभ्यास आदि के द्वारा समष्टि, व्यापकपिण्ड में, परमात्मा में अन्तर्लीनता ही उसके परमपद में प्रतिष्ठित होने का स्वरूप है। ब्रह्माण्ड के समस्त रहस्य का शरीरपिण्ड में भेदन करने वाला योगी अथवा युक्त जीवात्मा परमशान्त, निष्कल, निरंजन, परब्रह्मपरमेश्वर आदिनाथ के स्वरूप में स्थित हो जाता है, यही परमपद अथवा परमकैवल्य है। निस्सन्देह समस्त भौतिक वस्तुओं की समस्त कार्य-कारणात्मक क्रियायें और विकास की समस्त प्रक्रियायें तथा ब्रह्माण्ड में वस्तुओं के नवीनतम स्तरों के प्रकट होने की प्रक्रियायें एक शाश्वत-अनन्त परब्रह्म

गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ

परमेश्वर की स्वच्छन्द सृजनेच्छा या इच्छा से शासित होती है। यह सर्वथा निर्विवाद है कि एकही परमात्मा अपनी असीम आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा इन समस्त विभिन्नताओं के रूप में अभिव्यक्त होकर उनमें रमण करता है। शिवशक्ति की ब्रह्माण्ड और पिण्ड से प्रापंचिक आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया व्यक्तियों में आनन्दमय आध्यात्मिक चेतना और अस्तित्व के समस्त स्तरों की आध्यात्मिकता और एकता के प्रकट होनेपर पूर्ण हो जाती है, इसकी सिद्धि तत्वज्ञानी योगियों के जीवन में होती है। सिद्धसिद्धान्त में योगसिद्धि के लिये मन, बुद्धि आदि सभी आध्यात्मिक सत्तायें हैं। योगी का लक्ष्य एक आत्मा को समस्त प्रकार के शरीर में देखना और समस्त प्रापंचिक सत्ताओं के मौलिक आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है। यही पिण्ड, प्रापंचिक सत्ता तथा ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का मौलिक ज्ञान है। ज्यों-ज्यों योग विज्ञानी अपनी आन्तरिक शक्तियों को उत्तरोत्तर उन्नत करने वाले चक्रों, आधारों आदि को कुण्डलिनी-जागरण, नादानुसन्धान तथा प्राणसाधना और मन के उन्मनीकरण द्वारा सक्रिय अथवा उर्ध्वमुख करता है, त्यों-त्यों उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका व्यष्टिपिण्ड (शरीर) शुद्ध आध्यात्मिक चेतना के प्रवाह में स्थूलता और भौतिकता से ऊपर उठकर अधिक तेजस्वी रूप में आध्यात्मिक स्वरूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है। जब व्यावहारिक चेतना यथेष्ट शुद्ध और आलोकित हो जाती है, तब पूर्ण का प्रत्येक अंश में पूर्ण रूप में अनुभव किया जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-व्यवस्था प्रत्येक पिण्ड में अनुभवगम्य हो जाती है और समस्त व्यष्टि-पिण्डों की मौलिक एकता स्वतः अभिव्यक्त हो उठती है। योगी की दृष्टि वस्तुओं के धरातल का ही स्पर्श कर नहीं लौटती, वह तो समस्त वस्तुओं की आत्मा में, चिन्मय सत्ता में प्रवेश करती है। उसके लिये ब्रह्माण्ड में स्थित सूर्य, चन्द्र, लोक-लोकान्तर, द्वीप, सागर, नक्षत्र आदि व्यष्टि.पिण्ड में आध्यात्मिक धरातल पर सच्चिदानन्दस्वरूप में आभासित होते हैं। पांचभौतिक व्यष्टिशरीर में ही व्यावहारिक रूप से अनन्त शाश्वत ब्रह्माण्ड—व्यवस्था के दर्शन किये जा सकते हैं। योगदृष्टि की प्राप्ति होनेपर योगी स्वयं को विराट् पुरुष के रूप में अनुभव करने लग जाता है। योगी विभिन्न स्वरूप में अभिव्यक्त परमात्मा को और समस्त लोकों को अपने भीतर प्रत्यक्ष देखता है और ब्रह्माण्डदर्शन का आनन्दोपभोग करता है। वह जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, वर्ण आदि से ऊपर उठकर अपने व्यष्टिपिण्ड में सभी को एकात्मभूत समझता है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में गोरखनाथजी ने स्वयं अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहा है कि इस शरीर में जो सुख है, वही स्वर्ग है और जो दुःख है, वही

नरक है। सकाम कर्म ही बन्धन का कारण है। संकल्परहितता और निर्विकल्पता ही मुक्ति है। यद्यपि अज्ञानी इस निर्विकल्पता को निद्रारूप मानते हैं, तथापि वह अखण्ड आत्मबोधरूप स्थिति है, इस बोध-स्थिति में जागते रहना ही जीवन्मुक्ति है। योगी इस जीवन्मुक्ति में निरन्तर रमण कर समष्टि-पिण्ड—ब्रह्माण्ड और व्यष्टिपिण्ड—शरीर में तात्विक एकात्मकता का रसास्वादन करता है।

यत्सुखं तत्स्वर्गं, यद्दु:खं तन्नरकं, यत्कर्मतद्बन्धनं, यन्निर्विकल्पं तन्मुक्ति:, स्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्नजागर: शान्तिर्भवति। एवं सर्वदेहेषु विश्वरूपपरमेश्वर: परमात्माऽखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपो तिष्ठति।। एवं पिण्डसंवित्तिर्भवति।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३। १३)

असीम, अखण्ड, निरंजन परमेश्वर प्रत्येक शरीर में विद्यमान है, यही परम सद्विवेक अथवा महायोगज्ञान है। हमारे नाथयोग में जीवात्मा का शिव और शक्ति के साथ योगज्ञानपूर्वक अभेद होना ही समरसरूप मोक्ष कहा जाता है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में परमात्मा की निजाशक्ति की महिमा का विलक्षण विवेचन हमारे महायोगी गुरुगोरखनाथ ने किया है। यह परमेश्वर की स्वकीया शक्ति है। यह तत्वत: परमकैवल्यस्वरूपिणी महामाया है, मोक्षदायिनी परमेश्वरी है। सिद्धसिद्धान्त के अन्तर्गत शिव को शक्ति की आत्मा कहा जा सकता है और शक्ति शिव का अभिव्यक्ति-माध्यम है। शिव के पारमार्थिक स्वरूप में निहित शक्ति एक अनन्त और शाश्वत रूप में सक्रिय ऊर्जा है। शिव शक्ति की आत्मा है तो शक्ति शिव का शरीर है। शरीर का तात्पर्य आकार से है। शिव शक्ति का पारमार्थिक रूप है तो शक्ति शिव का प्रापंचिक स्तर है। शिव से भिन्न और स्वतंत्र शक्ति का अस्तित्व ही नहीं है।

महायोगी गोरखनाथजी ने अपनी 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' रचना में कुण्डलिनी के जागरण और महत्ता पर मौलिक प्रकाश डाला है। शरीर में कुण्डलिनी अप्रबुद्ध और प्रबुद्ध रूप में विद्यमान है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी जबतक योगसाधना के द्वारा प्रबुद्ध नहीं की जाती, तबतक देहासक्त संसार के विषयभोगों में आबद्ध लोगों के लिये यह शोक, मोह, चिन्ता व्यापार आदि के द्वारा बन्धन-कारिणी है। जबतक यह मूलाधार में प्रसुप्त है, अधोमुखी है, तबतक प्राणियों को जन्म, मरण के फल से प्रभावित करती रहती है। प्रबुद्ध कुण्डलिनी जब समुत्थित होकर सहस्रार का भेदन कर परमशिव में अन्तर्लीन हो जाती है, तब वह योग-

सिद्ध पुरुष के जन्म-मरण दुःखरूप फलों को देनेवाले कर्म (के प्रभाव) और मन के विकारों को नष्ट करने में समर्थ होती है । समस्त जागतिक बन्धनों—अविद्या-अन्धकार के परिणामों और विपाकों का प्रबुद्ध कुण्डलिनी के ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने पर अन्त हो जाता है । योगी पूर्णकाम और शिवपद में स्वस्थ हो जाता है, वह परमपद में अलख निरंजन की ज्योति से महिमान्वित हो उठता है । गोरखनाथ ने कहा है :—

सा विमर्शरूपिणी योगिनः स्वस्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा ।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४ । १५)

यह कुण्डलिनी समस्त कार्यों के ऊपर विद्यमान है, यह विमर्शरूपविद्या है, यह प्रबुद्ध होने पर योगियों को आत्मा के स्वरूप का व्यापक ज्ञान करा देती है। योगी की दृष्टि में यही आत्मदर्शन है । यद्यपि कुण्डलिनी एक है पर स्थान और स्थूल-सूक्ष्मभेद से अधः, मध्य और ऊर्ध्व कही गयी है । गोरखनाथजी ने कुण्डलिनी-जागरण के द्वारा परमपद की प्राप्ति का संकेत किया है :—

मध्यशक्तिप्रबोधेन अधः शक्तिनिकुञ्चनात् ।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४ । १६)

हमारे नाथयोग में शक्ति के अभ्युत्थान से परमपद में योगसाधक का प्रतिष्ठित होना ही उसकी महती योगसिद्धि है । जिस महामाया-मूलशक्ति अथवा मूलमाया के बल पर परमेश्वर जगत् की रचना करता है, वह मूलाधार में स्थित है, उस शक्ति को जगाकर उसके ध्यान से जब योगी सम्पूर्ण चैतन्यस्वरूप में आत्माभिव्यक्त हो उठता है, तब वह सृजन और संहार में परमेश्वर की ही तरह समर्थ हो जाता है । उसकी सम्पूर्ण सत्ता, अहंता, क्रियाशक्ति, सच्चिदानन्दपरमेश्वर की महाशक्ति में अन्तर्लीन हो उठती है । मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी समस्त प्राणिमात्र का जीवनाधार है, यह प्रत्येक जीवात्मा के शरीर में व्यापक और अतिसूक्ष्म है । यह अपने स्थूल रूप में स्थूल सृष्टि की रचनात्मिका शक्ति है, इसलिये इसे सृष्टि-कुण्डलिनी कहा जाता है । मध्यमा कुण्डलिनी चिद्रूपिणी है । यही जीव का वास्तविक स्वरूप है । यह शक्ति चंचल मन और इन्द्रियों के विषय-भोगों के रस में रमण करने वाले जीवात्मा को अपने निर्मल, शुद्धस्वरूप में—आत्मचैतन्य-प्रकाश में स्थापित कर देती है।

यह जीवात्मा पूर्वजन्मकृत सत्कर्म के फल से इस जन्म में सद्गुरु की कृपा से जब मध्यमा कुण्डलिनी को जगा लेता है, तब वह योगसिद्धि के द्वारा सहजानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह निराकार चैतन्यस्वरूपिणी सूक्ष्म महाशक्ति है।

योगिनां परमानन्दतया कुण्डलिनी या निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४। २२)

मध्यमा–कुण्डलिनी के प्रबोधन के उपरान्त जो शक्ति ब्रह्म के अखण्ड-स्वरूप, सच्चिदानन्द का साक्षात्कार कराने में तत्पर होती है, वह ऊर्ध्वशक्ति कही जाती है। शिव और शक्ति की अभेदता ही परमपद की प्राप्ति में ऊर्ध्वशक्तिनिपात का हेतु है।

गोरखनाथजी ने स्वसंवेद्य, अनुभवैकगम्य निरंजनतत्व का पिण्डपद सामरस्यपरकयोगविज्ञान के स्तर पर निर्वचन किया। यह महत्तत्व स्वतःसिद्ध स्वरूप चैतन्यप्रकाश से ही वेद्य है। इस स्वचेतनप्रकाश के माध्यम से ही ब्रह्माण्ड में स्थित सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि ज्योतिःस्वरूप पदार्थ प्रत्याभासित होते हैं। गोरखनाथजी ने कहा है :

परमपदमिति स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम्।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५। २)

यही योगसम्मत परमधाम है, जिसका निर्वचन साधनसापेक्ष हो ही नहीं सकता। निर्विकल्प समाधि के द्वारा ही सहज शून्य में ॐकारपदातीत परमपद की स्वाभिव्यक्ति सहज सिद्ध है। योगसिद्ध महापुरुष गुरु की कृपाकटाक्ष-ज्योति से श्रद्धानिष्ठ योगाभ्यासी को स्वसंवेद्य परमपद का अनुभव होता है तो हो जाता है। गुरु के कृपाकटाक्ष के सम्बल द्वारा मन, इन्द्रियों आदि के संयमपूर्वक अपने पिण्ड का परपिण्ड के साथ सामरस्य स्थापित कर सच्चिदानन्द परब्रह्म का योगी रसास्वादन करता है।

"तस्माद् गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महासिद्धयोगिभिः स्वकीयं पिण्डं निरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्तः।"

(सिद्धसिद्धान्त पद्धति ५ ७)

स्वपरपिण्डादि अभेद रूप परमपद की प्राप्ति का उपाय ही सिद्धमत में निरुत्थान कहा जाता है। योगी के लिये यह आवश्यक है कि यदि वह कैवल्यपद का अनुभव पाना चाहता है तो अवधूत गुरु की कृपा प्राप्त करे। 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' में गोरखनाथजी ने शिव के वचन को उद्धृत कर योगमार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

योगमार्गात्परो मार्गो नास्तिनास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा॥
(सिद्ध सि० प० ५। २२)

जड़–पदार्थों का योग नहीं होता है, जड़ और चेतन का संयोग होता है, जीवात्मा द्वारा परमात्मा में अभिन्नता की अनुभूति ही योग है। यही श्रेयस्कर योगमार्ग है। महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि परमात्मा से अभिन्न जीवात्मा का शाश्वत चैतन्यस्वरूप योगमार्गपरक सहज, संयम, सोपाय और अद्वैतक्रम से ही लक्षित होता है। जीवात्मा द्वारा परमात्मस्वरूप की स्वानुभूति ही सहज ज्ञान है। इन्द्रियों और मन को अपने विषयों से प्रत्याहारित कर आत्मा में प्रवृत्त करना ही संयम है। अपने स्वप्रकाश आत्मा को सर्वत्र व्यापक और अभेद जानकर उसी में स्वस्थ रहना ही स्थिति है, इस स्थिति का जिस ज्ञान द्वारा अनुभव होता है, वही सोपाय ज्ञान है। परमतत्व की अपरोक्षानुभूति ही अद्वैतक्रमलक्षित परमपद है। गोरखनाथजी का उपदेशामृत है कि साधना की सिद्धि के लिये योगी को अपने गुरु के उपदिष्ट योगज्ञान में पूर्णश्रद्धावान् होकर अपने व्यष्टिपिण्ड में समस्त ब्रह्माण्डनायक अलखनिरंजन की पूर्ण अनुभूति कर परपिण्ड से समरसीकरणपूर्वक अज्ञान-अन्धकार का उच्छेदकर परमपद में स्थित हो जाना नितान्त समीचीन और कल्याणकारी है। परमपद-प्राप्ति की दिशा में गुरु का अनुग्रह ही प्रमुख साधन है, इस अनुग्रह के तीन क्रम हैं—शक्तिपात, करुणावलोकन और उपदेश। उपदेशसम्बन्धी अनुग्रह का तात्पर्य यह है कि गुरु आत्मज्ञान के प्रकाश में पांच-भौतिक जड़ पदार्थों के मिथ्यात्व का निर्देशन कर अपने शिष्य को सत्स्वरूप में स्वस्थ रहने का सदुपदेश प्रदान करता है। शिष्य में विशेष श्रद्धा और साधना के प्रति सत्कार-बुद्धि देखकर गुरु अपनी योगशक्ति से उसे कृतार्थ कर सत्स्वरूप में स्थित कर देता है। यही शक्तिपात है। करुणावलोकन भी एक प्रकार का शक्तिपात है।

कथनाच्छक्तिपाताद्वायद्वापादावलोकनात्।
प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्॥
(सि० सि० प० ५। ६५)

हमारे सिद्धामृतमार्ग में इसी सिद्धान्त का पोषण है कि जो मन्त्रोपदेश या करुणावलोकन मात्र से शिष्य को परम विश्राम में अधिष्ठित कर देता है, वही सद्गुरु है। गोरखनाथजी की शिक्षा है :—

अतएव परमपदप्राप्त्यर्थं सद्गुरुः सदावन्दनीयः।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५। ७०)

यह निर्विवाद है कि गुरु के कृपापात्र शिष्य की सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियों का आत्मस्वरूप में लय हो जाने पर उसे स्वतः जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य का रसानुभव सुलभ हो जाता है। सांसारिक बाह्य विषयों में आसक्त बुद्धि में शान्ति और मुक्ति की अमृतमन्दाकिनी की अजस्र धारा प्रवाहित हो उठती है। पिण्डपद-सामरस्य का आनन्द प्राप्त हो जाता है।

गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में अवधूत योगी के लक्षण का निरूपण कर संन्यास की वास्तविक गरिमा प्रकाशित की है। उनकी योगदृष्टि में अवधूत योगी वह है, जो सामरस्य के आदर्श को पूर्णतया सिद्ध कर लेता है और स्वसंवेद्य परमतत्व का रसास्वादन करता रहता है। अवधूत योगी अहंकार, अज्ञान, संकीर्ण दृष्टिकोण तथा समस्त इच्छाओं, वासनाओं, चिन्ताओं, दुःखों और द्वन्द्वों तथा बन्धनों से मुक्त होकर आत्मस्वरूप में निरन्तर प्रवृत्त रहता है। वह उन्मनी समाधि की अवस्था में परमपद का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है, निरपेक्ष अनुभूति के प्रकाश से अपनी चेतना के बौद्धिक, मानसिक और प्राणीय स्तरों को भी प्रकाशित कर देता है। सांसारिक जीवन और लोकव्यवहार के सामान्य कार्यों को करते हुए भी उसकी समाधि-अवस्था निर्विकार और सहज बनी रहती है। ऐसा अवधूत योगी वास्तव में नाथ कहा जाता है। वह स्वामी होता है, सद्गुरु होता है। गोरखनाथजी साक्षात् शिव अवधूत थे, उनका योगदर्शन वास्तव में पूर्ण आत्मज्ञान के आलोक से सम्पन्न मनःस्थिति में स्वयं उनके तथा अन्य सिद्ध महा-योगियों के द्वारा अनुभूत सत्य के प्रकाश में निम्नस्तरीय सामान्य मानवीय अनुभूतियों तथा चेतना के सामान्य ऐन्द्रिक स्तर एवं पूर्ण ज्ञानालोकित स्तर के मध्यवर्ती असामान्य स्तर की रहस्यमयी अनुभूतियों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। गोरखनाथजी की दृष्टि में अवधूत योगी वह है, जो अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष, अभिनिवेश, पंच क्लेशों के पाश—बन्धन से तथा बाल्य, यौवन और जरा, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के प्रपंच से मुक्त होकर मन को उन्मन कर अलख निरंजन में रम जाता है। गोरखनाथजी के वचन हैं :—

अवधूततनुर्योगी निराकारपदे स्थितः ।
सर्वेषां दर्शनानाञ्चस्वस्वरूपं प्रकाशते ॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ३३)

गोरखनाथजी ने सहज सिद्धमत का ही आश्रय ग्रहण करने का उपदेश दिया है ।

तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ७५)

जब योग की साधना में शुद्ध स्वरूपानन्द का बोध हो जाता है, तब अविद्यारूप भ्रान्ति और सुख-दुःखादि द्वन्द्वात्मक प्रपंचों की स्वतः सहज निवृत्ति हो जाती है । योगी निरतिशयानन्द की प्राप्ति करता है ।

नाथयोगियों में व्यवहृत 'आदेश' शब्द का गोरखनाथजी ने बड़ा उपयुक्त आशय व्यक्त किया है । आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा की अभेदता ही सत्य है, इस सत्य का अनुभव या दर्शन हमारे सिद्धामृत मार्ग में 'आदेश' कहलाता है । व्यावहारिक चेतना की आध्यात्मिक प्रबुद्धता जीवात्माऔरआत्मा तथा परमात्मा की अभिन्नता के साक्षात्कार में निहित है । इन तथ्यों का ध्यान रखते हुए जब योगी एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं अथवा गुरुपद में प्रणत होते हैं तो 'आदेश-आदेश' का उच्चारण कर जीवात्मा, विश्वात्मा और परमात्मा के तादात्म्य का स्मरण कराते हैं ।

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे ।
त्रयाणामैक्यसंभूतिरादेश इति कीर्तितः ॥
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयापहाम् ।
यो योगिनं प्रतिवदेत् सयात्यात्मानमैश्वरम् ॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ६४-६५)

'आदेश' के उच्चारण मात्र से ही समस्त दुःखों का नाश हो जाता है । 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' परमेश्वरसम्बन्धी सिद्धयोगशास्त्र है, यह महादिव्य, अलौकिक सिद्धसिद्धान्त का योगदर्शन है । इसके पाठ से समस्त सन्देहों का नाश हो जाता है और सिद्धामृतमार्गसम्मत योगसाधन-प्रक्रिया का रहस्य स्वतः प्रकाशित हो उठता है । गोरखनाथजी ने कहा है :—

एतच्छास्त्रं महादिव्य रहस्यं पारमेश्वरम् ।
सिद्धान्तं सर्वसारम्य नानासंकेतनिर्णयम् ॥
सिद्धाना प्रश्ट सिद्धं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
आत्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देहनाशनम् ॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ९७-९८)

यद्यपि सिद्धसिद्धान्तपद्धति में योग के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन ही विशेष रूप से परिलक्षित है तथापि साधनासम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकियात्मक रहस्यों के अनुभवपूर्ण विवेचन से भी यह सर्वथा सम्पन्न है। यह हमारे नाथयोग का अद्भूत वाङमय है । हमारे मन में कई वर्षों पहले यह संकल्प उदित हुआ था कि इसका शुद्ध संस्कृतपाठसहित हिन्दी में सहज सुबोध भाष्य की प्रस्तुतिपूर्वक प्रकाशन हो । हमारी इच्छा थी कि हमारे गोरक्षसिद्धयोगपीठ से इस तरह का लोकप्रिय संस्करण नाथयोग के सत्सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में सहायक हो। श्रीगोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले "योगवाणी" मासिक के सम्पादक रामलालजी श्रीवास्तव ने हिन्दी में सहज-सुबोध भाष्य प्रस्तुत कर 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की यौगिक गरिमा ही नहीं बढ़ायी, हमारी इच्छा और पवित्र संकल्प की पूर्ति में भी अपनी महनीय भूमिका निबाही है। उनके अनुभवपूर्ण मार्मिक भाष्य से 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' को समझने में योगसाधकों को बड़ी सुगमता होगी। हम इस कार्य के लिये उन्हें हृदय से आशीर्वाद प्रदान करते हैं। शिवगोरक्ष भगवान् गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के रूप में अद्भुत योगशास्त्र प्रदान किया और इसका सूक्ष्म रहस्य उनके चरणाश्रय से ही समझ में आ सकता है। हम उन्हीं के मांगलिक वचन (सि० सि० प० ६ । ११५) के प्रकाशन में बड़े आत्मविश्वास से यह कहने का साहस करते हैं कि योगसाधकों—भक्तों पर अनुग्रह-स्वरूप परमानन्ददायक गणपतिनाम का तेज सिद्धसिद्धान्त के प्रकाश से प्राणीमात्र की चेतना को आलोकित करे ।

विद्यात्वर्थनिचयं भक्तानुग्रहमूर्तिमत् ।
स्मरानन्दभरं चेतो गणपत्यभिधं महः ।

गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर — महन्त अवेद्यनाथ

विजयादशमी २०३८ वि० — (गोरक्षपीठाधीश्वर)

सिद्धसिद्धान्तपद्धति

महायोगी शिवगोरक्ष भगवान् गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ऐसे असाधारण तथा अपूर्व, परमदिव्य योगशास्त्र की रचना कर आधिदैविक, आधिदैहिक और आधिभौतिक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति प्रकाशित कर आध्यात्मिक मुक्ति का विधान प्रशस्त किया। यह विधान ही सिद्ध-साधना-पद्धति में सिद्धान्त कहा गया है। यह पिण्डगत साधना की ब्रह्माण्ड में अखण्ड परमात्मस्वरूप की अनुभूति का सच्छास्त्र है। गोरखनाथजी की दृष्टि में यह सिद्धान्त का सार है, श्रेयस्कर और प्रासादिक अथवा निर्मल है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' का उपसंहार करते हुए उन्होंने अभिमत व्यक्त किया है।

'पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम्।'
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६। ९३)

नाथ–सम्प्रदाय अथवा सिद्धामृत मार्ग ही नहीं, सम्पूर्ण नाथयोग तथा सामान्य-असामान्य योग-साधना के धरातल पर 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' गोरखनाथजी की अप्रतिम देन है। पतञ्जलि का योगदर्शन तो योग के आदिवक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ के योगानुशासन का सूत्रात्मक संकेत मात्र है और महर्षि ने आरम्भ में ही हिरण्यगर्भ की योगकृति का सन्दर्भ व्यक्त किया है :

'अथ योगानुशासनम्'
(योगसूत्र १। १)

इस सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि पतञ्जलि ने योग का जो कुछ भी निदर्शन किया है, उसका आधार-वाङ्मय हिरण्यगर्भ का 'योगानुशासन्' है। महाभारत में योग के वक्ता हिरण्यगर्भ का उल्लेख है।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।
(महाभारत शान्ति० ३४७। ६५)

यद्यपि गोरखनाथजी की योगदृष्टि में हिरण्यगर्भ का 'योगानुशासन' था, तथापि उन्होंने पार्वती के प्रति शिव द्वारा सप्तशृंग पर उपदिष्ट महाज्ञान का, जिसका महायोगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने श्रवण कर उन्हें गुरु-परम्परा को सजीव रखने के लिए प्रदान किया था, 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में नाथयोग के रूप में स्पष्ट प्रतिपादन है। हिरण्यगर्भ के 'योगानुशासन' से यही 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की विशिष्टता है और यही कारण है कि गोरखनाथजी की यह रचना निरन्तर अपनी मौलिकता में प्रतिष्ठित है और योगसाधना की सिद्धि के स्तर पर भविष्य में भी प्राणवान् अंग के रूप में स्वीकृति होती रहेगी। गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' शास्त्र को महादिव्य पारमेश्वर रहस्य का सिद्धान्त कहा है। सिद्धों का अनुभवस्वरूप 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' योगशास्त्र साक्षात् अनुभव है, आत्मानन्द प्रदान करने वाला है और सर्वसन्देहनाशक है, सत्स्वरूप है।

एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम्।
सिद्धान्तं सर्वसारस्य नानासंकेतनिर्णयम्॥
सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यः प्रत्ययकारकम्।
आत्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देहनाशनम्॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ९७-९८)

गोरखनाथजी द्वारा उपदिष्ट योग महाज्ञान ही नाथयोग-मार्ग का साधन तत्व है। यही कारण है कि नाथयोगमार्ग को सिद्धमत, सिद्धामृत मार्ग अथवा अवधूत-मार्ग कहा गया है। यद्यपि नाथ-सम्प्रदाय में अनेक महत्वपूर्ण योगग्रन्थों की रचना हो सकी है, तथापि 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ग्रन्थ ऐसा सिद्धान्त-प्रतिपादक दूसरा ग्रन्थ कोई है ही नहीं। वास्तव में यह योगदर्शन का सम्पूर्ण विवेचनात्मक विचार-वाङमय है और इस योगज्ञान में गोरखनाथजी ने बड़ी रहस्यमयी सूक्ष्म-दृष्टि के द्वारा साधन-प्रक्रिया भर दी है, पर उसका अभ्यास सिद्धपुरुष अथवा अवधूत गुरु की ही देख-रेख में सम्भव है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के गहन परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस अप्रतिम नाथयोगशास्त्र में योगदर्शन तथा प्रक्रिया—साधनाभ्यास का सफल समन्वय हो सका है।

योगविषय का प्रतिपादन 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में गोरखनाथजी ने करते हुए जिस प्रत्यक्षानुभूति-अपरोक्षानुभूति के सहारे परमात्मा के अखण्ड—अलख निरञ्जन स्वरूप का निजाशक्ति के समाश्रय में वर्णन किया है, वह अन्यत्र असाध्य भले ही न हो, दुर्लभ तो है ही। इस योगशास्त्र के छः अध्यायों में पिण्डोत्पत्ति, पिण्ड-

विचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपदसमरसभाव और नित्यावधूत-लक्षण का उपदेश करते हुए गोरखनाथजी ने हठयोग—प्राण-साधना के परिप्रेक्ष्य में परम पद की प्राप्ति को ही नाथयोग का प्रतिपाद्य स्वीकार किया है। उन्होंने समस्त तत्वों की समावस्था के निरुद्यम—सहज स्थिति को समाधि कहते हुए उसकी असम्प्रज्ञात-चरमावस्था में परमपद की प्राप्ति सिद्ध की है। उन्होंने नाथयोग का परम तत्व इस सिद्धान्त में स्थिर किया है कि पिण्ड में अखण्ड ब्रह्माण्ड की सहज अभिव्यक्ति के माध्यम से परमात्म ज्योति का पूर्ण साक्षात्कार होता है। यही सिद्ध-मार्ग कहा गया है। गोरखनाथजी ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'योगबीज' में इस कथन की प्रामाणिकता अंकित की है।

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम्॥

उन्होंने इस कथन की पुष्टि के लिये इसे शिवभाषित—शिव-उपदिष्ट कह कर इसके सत्सिद्धान्तस्वरूप की रक्षा की है। उन्होंने परमपद को स्वसंवेद्य कहा है, स्वसंवेद्य कह कर योगमार्ग का सर्वतन्त्रस्वरूप स्पष्ट किया है।

'स्वसंवेद्यमेव परमपदम्।'
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५ । ४)

यद्यपि परम पद स्वसंवेद्य है, अपरोक्षानुभवैकगम्य है, तथापि जिस साधक पर सद्गुरु की कृपा नहीं होती अथवा जो साधक सद्गुरु के योगोपदेशामृत से वंचित रह जाता है, वह परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता है।

प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्।
+ + +
अतएव—परमपदप्राप्त्यर्थं स सद्गुरुः सदा वन्दनीयः॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५ । ६५, ७०)

इस परम पद की प्राप्ति की दिशा में अधः शक्ति के रूप में प्रसुप्त कुण्डलिनी का प्रबोधन आवश्यक है। मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी अपनी सुप्तावस्था से जाग कर मणिपूरक और अनाहत चक्र को पार करने के उपरान्त प्रकाशस्वरूपिणी हो उठती है। यह मध्याशक्ति कहलाती है और आज्ञाचक्र का भेदन कर ऊर्ध्वशक्ति के रूप में सहस्रार में प्रवेश कर शिवस्वरूप हो जाती है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' रचना निस्सन्देह सिद्धों के सिद्धान्त का अक्षर वाङ्मय है और सिद्धपुरुषों द्वारा परम्परा से स्वीकृत है। इसकी लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि अभी प्राय: दो सौ साल पहले काशी के प्रसिद्ध नाथयोगमर्मज्ञ बलभद्र ने इसके सारतत्व को स्वरचित्त श्लोकों में अनुस्यूत कर 'सिद्धसिद्धान्त संग्रह' का प्रणयन किया, जो इस योग-ग्रन्थ को समझने का एक विशिष्ट माध्यम है। किन्हीं कृष्णराज के निर्देश से बलभद्र ने 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' रूप पुण्यकार्य सम्पादित किया था। उनका कथन है:

यत्पदाब्जरजः स्पर्शादरजस्कं मनो भवेत्।
स एव गुरुनाथो मे कृपासिन्धुः प्रसीदताम्॥
अथो ये सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सुनिरूपिताः।
संग्रहं तनुते तेषां कश्चिच्छ्रीकृष्णतुष्टये॥
(सिद्धसिद्धान्तसंग्रह १।१-२)

बलभद्र ने श्रीनाथ गुरु--साक्षात् श्रीगोरखनाथ के ही पदकमलों में प्रणति के परिणामस्वरूप उनकी प्रसन्नता अथवा अनुग्रह से मन का अरजस्क--निर्मल होना स्वीकार किया है। उन्होंने 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' का साधारणीकरण किया है। 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' का प्रकाशन महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने सन् १९२५ में सरस्वती भवन 'टेक्स्ट सेरीज' के अन्तर्गत काशी से किया था।

मैंने संस्कृत का मूलपाठ अत्यन्त संशोधितरूप में सिद्धपूरवाड़ा कुटी गान्धारा, जालन्धर द्वारा प्रकाशित और सम्राट प्रेस, पहाड़ी धीरज दिल्ली द्वारा मुद्रित 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' से लिया है। यह अत्यन्त प्रामाणिक और शुद्ध है तथा इसके दो संस्करण सन् १९४० ई० और १९७१ ई० में क्रमशः प्रकाशित हो चुके हैं। इसकी संस्कृत टीका महामहोपाध्याय द्रव्येश झा ने लिखी है और इसका हिन्दी रूपान्तर योगी भीष्मनाथ ने किया है। मैंने अपने हिन्दी रूपान्तर में द्रव्येश झा महोदय की टीका से भी थोड़ी-बहुत सहायता ली है, इससे मैं अपने हिन्दी-भाष्य को अधिक सुगम-सहज-सुबोध कर सका।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के उपर्युक्त संस्करण का अंग्रेजी में सारतत्व प्रस्तुत करने में डॉ० कल्याणी मल्लिक ने भी उपयोग किया और इस तरह 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' की लोकप्रियता बढ़ाने में उनका योगदान कम नहीं है। गोरखनाथ

एण्ड दि कनफटा योगीज' अंग्रेजी ग्रन्थ के प्रणेता महामति ब्रिग्स ने भी 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की चर्चा की है और गोरखनाथकृत इस रचना के अतिरिक्त उन्होंने नित्यानन्दकृत 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' नामक एक और रचना का उल्लेख किया है। 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में इन्हीं नित्यानन्द को नित्यनाथ कहा गया है और उसमें नित्यनाथकृत 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' से दो-तीन श्लोक उद्धृत हैं, जो बहुत ही मार्मिक हैं और गोरक्षसिद्धान्त का विशिष्ट प्रतिपादन करते हैं। उनमें से (१।३) एक है :

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपति सुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशा नैव कालः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिर्नैव कल्पाः
स्वयं ज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदादन्दमूर्ते।

सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर! आप के परमपदतक ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, इन्द्र और देवगण, पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश, दिशाएँ, काल, वेद, यज्ञ, सूर्य और चन्द्रमा, विधि-कल्प की भी पहुँच नहीं है, एकमात्र सत्स्वरूप निजा शक्ति—ज्योति ही उस परम पद में अभिव्यक्त है।

महायोगी गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में योगसाधकों के संतोष और आत्मतृप्ति के लिये यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि जो कुछ भी इस शरीर में सुखानुभव है, वही स्वर्ग है और जो दुःख है, वही नरक है। सकाम कर्म ही बन्धन है, निर्विकल्पता ही मुक्ति है, द्वैत-प्रपंच की शान्ति से ही यह मुक्ति सुलभ होती है।

यत्सुखं तत्स्वर्गं यद्दुःखं तन्नरकं, यत्कर्म तद्बन्धनं यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३।१३)

यह स्वीकार करना नितान्त युक्तिसंगत और अत्यन्त समीचीन है कि महायोगी गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में सनातन, परम्परागत योग का स्वरूप साधना और दर्शन के स्तर पर सुनिश्चित किया। योग सार्वभौम जीवन-दर्शन का प्रयोगात्मक सर्वश्रेष्ठ विज्ञान है, जिसके समाश्रय में सांख्य, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा को क्रमशः प्रकृति-पुरुष के तत्वात्मक

सम्बन्ध, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति, जड़ से असंगता, असत् से परे सद्ज्ञान की प्रतिष्ठा, कर्म में परमेश्वर की आराधना और आत्मज्ञान अथवा अखण्ड ब्रह्मज्ञान में स्वरूपबोध के उद्गम का मूल प्रवाह दर्शनीय है।

योग के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही तन्त्र और देहात्मवादी दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में अनेकानेक भ्रामक और गलत धारणाओं से सत्य के प्रति जिज्ञासु साधकों को दिग्भ्रमित होना पड़ा। महायोगज्ञानामृत से तृप्त होने वाले उत्सुक प्राणियों को विभिन्न साम्प्रदायिक और दार्शनिक मान्यताओं के कठघरों में बड़ी-बड़ी प्रताड़नायें सहने पर भी सत्स्वरूप का बोध दुर्लभ होता गया। योग के सत्सिद्धान्तों को अपनी-अपनी मान्यताओं के वाग्जाल में उलझा कर योगमार्ग में सही प्रगति की दिशा में बढ़ने वालों को बड़े-बड़े तथाकथित आत्मज्ञानियों और परमात्मतत्व की चर्चा करने वालों ने भ्रमित कर दिया। अतएव 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' ऐसे भ्रमित जिज्ञासुओं के लिये एक ध्रुव अक्षर प्रकाश है, जिसके द्वारा चिरकाल तक लोग योग का सही-सही मूल्यांकन करते हुए साधना में अनायास सहजसिद्ध स्वरूपबोध प्राप्त करते रहेंगे। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की रचना की आधारशिला है परमपद की सहज प्राप्ति, जिसमें जीवात्मा और परमात्मा में अभेदता—सम्पूर्ण सामरस्य अथवा ऐक्य की स्थापना हो जाती है।

यह निर्विवाद है कि जहाँ पातञ्जल योग का दर्शन समाप्त होता है, वहाँ नाथयोग-ज्ञान का साधना और दार्शनिकता के स्तर पर आरम्भ होता है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगानुशासन के प्रकाश में चित्तवृत्तिनिरोध को योगसिद्ध कर द्रष्टा के स्वरूपावस्थान को उसका अमोघ फल बताया है।

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'
(पातञ्जलयोग० १।३)

गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में अष्टांगयोग का स्वरूप विवेचित करते हुए इस चित्तवृत्तिनिरोधरूप पातञ्जल योग को नियम के अन्तर्गत निश्चित कर मत व्यक्त किया है।

'नियम इति मनोवृत्तिनां नियमनम्'
(सि० सि० प० २।३३)

इस तरह मनोवृत्ति के नियमन में ही पतञ्जलि द्वारा स्वीकृत योग की प्रतिष्ठा कर 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' को 'आसनमिति स्वस्वरूपे समा

सन्नता' के रूप में प्रतिपादित कर दिया। अतएव यहीं पातञ्जलयोग की समाप्ति है और सिद्धसिद्धान्तपद्धति में प्राणायाम आदि का विवेचन करते हुए महायोगी गोरखनाथजी ने परमपद की प्राप्ति के लिये सर्वतत्वसमावस्था-निरुद्यमत्व की अनायास स्थिति को समाधि कह कर नाथयोग की परिपूर्णता स्थापित की है। उनका कथन है।

सर्वतत्त्वानां समावस्थानिरुद्यमत्वमनायासंस्थितिमत्वमिति समाधिलक्षणम्।

(सिं० सि० प० २। ३९)

महायोगी गोरखनाथजी ने सिद्धसिद्धान्तसम्मत नाथयोग की साधना की सिद्धि भवताप के शमन में प्रतिष्ठित की है। उन्होंने गोरक्षशतक में कहा है।

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः॥
(गोरक्षशतक–६)

नाथयोग के सेवन से त्रय—आधिदैहिक, आधिभौतिक और आधिदैविकताप का शमन—नाश हो जाता है। सांसारिक दुःख से पीड़ित होने का भय नहीं रह जाता और जीवन में गुरु की कृपा से परमपद अभिव्यक्त हो उठता है। परमपद की अभिव्यक्ति का आशय है गुरु के सान्निध्यमात्र से जीव का सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाना, जीवात्मा सम्पूर्ण चैतन्य का वरण कर लेता है।

आज विश्व के प्राणियों में भारतीय योग के प्रति वास्तविक जिज्ञासा का उदय होता जा रहा है, इस दिशा में योग-साधना के दार्शनिक और साधनात्मक, दोनों पक्षों का निर्देशन 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में उपलब्ध है। मैंने हिन्दी भाष्य को बहुत ही सरल और सुगम रखने का सत्प्रयास किया है, जिससे लोगों को गोरखनाथजी की सिद्धपद्धति का प्रकाश प्राप्त हो सके। योगज्ञान की महिमा अपरिसीम है। योग अपने–आप में परमात्मानन्द का मधुरतम रस है, इस योगामृत का सेवन सद्गुरु की कृपा से होता है। जिज्ञासु जबतक श्रद्धापूर्वक गुरुज्ञान नहीं पाता तबतक यह योगामृत दुर्लभ है। योगदर्शन के महान् मर्मज्ञ

तथा भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड विद्वान् और योगसाधना के अनुभवी आचार्य, गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथजी महाराज के 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के प्रकाशन संकल्प में जो कुछ भी भूमिका निभा सका, यह महाराज श्री के आशीर्वाद का ही श्रेयस्कर फल है, अन्यथा 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ऐसे रहस्यमय योगशास्त्र का मर्म समझना मेरे लिये दुष्कर ही कहा जा सकता है। मेरा विश्वास है कि नाथयोग को समझने में योगसाधकों को इस प्रकाशन से वड़ी सुगमता होगी।

आनन्द-सदन, अलीनगर
गोरखपुर
विजयादशमी, २०३८ वि०

रामलाल श्रीवास्तव
सम्पादक 'योगवाणी'

ॐ नमो भगवते गोरक्षनाथाय

सिद्धसिद्धान्तपद्धति

पहला उपदेश

आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ॥ १ ॥

(अलख निरञ्जन) आदिनाथ (परमेश्वर) शक्तियुक्त (शिव); जगद्गुरु (जगत् के प्रकाशक) को नमस्कार कर मैं गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) सिद्धसिद्धान्तपद्धति (सिद्धों द्वारा उपदिष्ट तथा आचार में प्रयुक्त योगमहाज्ञान-पद्धति) का विवेचन (प्रक्रियात्मक वर्णन अथवा प्रवचन) करता हूँ ॥ १ ॥

विशेष—इस मांगलिक श्लोक के द्वारा श्रीगोरक्षनाथजी ने आदिनाथ द्वारा शिवस्वरूप में अभिव्यक्त होकर अपनी अभिन्न आत्मविहारिणी परमेश्वरी पार्वती के प्रति सप्तश्रृङ्ग पर उपदिष्ट योगमहाज्ञान का संदर्भ प्रस्तुत कर महामति मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा उसका श्रवण निरूपित किया है तथा मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अपने (गोरखनाथ के) प्रति उपदिष्ट का स्मरण दिलाया है। मत्स्येन्द्रनाथ ने इस शैव योग का प्रकाशन कर जगत् के प्राणियों का अज्ञान-अन्धकार नाश कर स्वसंवेद्य सिद्धामृत का सिद्धसिद्धान्त के रूप में अवतरण किया, इस सिद्धसिद्धान्त की पद्धति (साधन-प्रक्रिया) के रूप में गोरखनाथजी ने रचना की। शिव को शक्तियुक्त और जगद्गुरु के रूप में नमस्कार करने का यही स्वारस्य है।

नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिश्चाण्डपिण्डयोः ।
तथापि लोकवृत्त्यर्थं वक्ष्ये सत्सम्प्रदायतः ॥ २ ॥

यद्यपि इस (स्वसंवेद्य) सत्यविचार (अलखनिरञ्जनपरमेश्वरपरमात्मपरक सिद्धान्त) मे ब्रह्माण्ड (अण्ड) और व्यष्टि शरीर (पिण्ड) की उत्पत्ति का निरूपण नहीं हो सकता, तथापि लोकव्यवहार को ध्यान में रख कर असत्वाद के रूप में अण्डपिण्ड की उत्पत्ति का विवेचन करता हूँ ॥ २ ॥

विशेष—नाथयोग—सिद्धामृत मार्ग अथवा सिद्धमत में ही नहीं, वेदान्त आदि दर्शनों मे भी समस्त जगत् परमात्मस्वरूप स्वीकृत है, अतएव अण्ड (ब्रह्माण्ड) और पिण्ड (शरीर आदि) की उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं होती, क्यों कि कूटस्थ, असंग, अलख निरञ्जन आदिनाथ की सत्ता से अलग जगत् की सत्ता ही नहीं है, यह अजातवाद है तथापि लोक में व्यवहार के लिये सत्कार्यवाद—परिणामवाद का विवेचन किया गया है । प्रकृति का परिणाम ही संसार है, इसी मायिक—मिथ्याभासित संसार का सृजन और संहार (विनाश) होता रहता है, आत्मा अपरिणामी है, सम्पूर्ण परमात्म स्वरूप, सच्चिदानन्दस्वरूप है, एकरस, अखण्ड, नित्य और अमृतस्वरूप है । उसमें परिणामवाद अथवा रूपान्तर या सत्कार्यवाद सिद्ध नहीं होता है । अलख निरञ्जन के साक्षात्कार के प्रकाश में अजातवाद की ही महती प्रतिष्ठा है ।

सा पिण्डोत्पत्त्यादिः सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा पिण्डोत्पत्तिः पिण्डविचारः पिण्डसंवित्तिः पिण्डाधारः पिण्डपदसमरसभावः श्रीनित्यावधूतः ॥ ३ ॥

सिद्धमत में अत्यन्त प्रसिद्ध—सिद्धों के अनुभव में प्रकाशित पिण्डोत्पत्त्यादि पद्धति में पिण्ड की उत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार (शरीरस्थ चक्र, आधार आदि) पिण्डपदसमरसभाव और श्रीनित्यावधूत (के स्वरूप) का छः उपदेशों में (इस सिद्धसिद्धान्तपद्धति में) वर्णन किया गया है ॥ ३ ॥

अव्यक्त-अनाम परब्रह्म

यदा नास्ति स्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम् ।
अव्यक्तश्च परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा ॥ ४ ॥

जब (सृष्टि की उत्पत्ति होने के पहले) कोई कर्ता नहीं है, न (कार्य के अभाव में) कारण है और न कुल (शक्ति-क्रम—उपास्य-उपासक-भाव) तथा अकुल (योगक्रम—-योज्य-योजक-भाव का व्यवहार है, तब ब्रह्म अव्यक्त (द्वैताद्वैत-विवर्जित — स्वसंवेद्य) नाम से परे होता है । (उस महाप्रलय-काल में कार्य-कारणरहित, शक्तियुक्त निष्काम सृष्टि-संचालनकर्मरत और शक्ति से अतीत अपने स्वरूप में लय को प्राप्त ब्रह्म अव्यक्त और नामरहित होता है, वह नाम-रूप से अतीत अभिव्यक्त रहता है) ॥ ४ ॥

विशेष अतएव कर्तृत्व - कार्य-कारण से रहित, कुल-अकुल के व्यवहार से परे महाप्रलयकाल में ब्रह्म सम्पूर्ण अव्यक्त—स्वरूप में स्वस्थ होकर नाम से अतीत - रहित होता है । द्वैताद्वैतविवर्जित ब्रह्म (शून्यातीत) अव्यक्त स्वरूप में कार्यकारण से परे होकर विद्यमान रहता है ।

परब्रह्म को निजा आदि पाँच शक्ति और उनके गुण

अनामेति स्वयमनादिसिद्ध एकमेवानादिनिधनं सिद्ध-सिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्रधर्माधर्मिणी निजा शक्तिः प्रसिद्धा ॥ ५ ॥

परब्रह्म परमेश्वर नाम से रहित है, वह स्वयं (स्वाभिव्यक्त) है, अनादिसिद्ध (सजातीय-विजातीय भेद से रहित) है, वह एक मात्र सत्स्वरूप है, वह जन्म-मरण से रहित है, सिद्धों का यह सिद्धान्त (निश्चयात्मक मत) है कि ब्रह्म स्वसंवेद्य (अलख निरञ्जन) है, उस ब्रह्म की निजा शक्ति (सकल-लोककल्याण की) इच्छामात्र धर्मवाली तथा जीवमात्र के सुख-दुःख आदि भोगों के निमित्त सृष्टि और प्रलय में संकोच-विकास-धर्म वाली (निग्रहानुग्रहमयी) प्रसिद्ध है ॥ ५ ॥

तस्योन्मुखत्वमात्रेण पराशक्तिरुत्थिता ॥ ६ ॥

(निजाशक्ति-सहित) परब्रह्म (शिव) के मानसोल्लास—सृष्टि की इच्छा के उत्साह मात्र से (शिव में ही शयन करने वाली अथवा लय को प्राप्त होने वाली) पराशक्ति (जगदीश्वरी गौरी पार्वती) जाग्रत होती है—अभिव्यक्त होती है ॥ ६ ॥

तस्य स्पन्दनमात्रेण अपराशक्तिरुत्थिता ॥ ७ ॥

(आदिनाथ परमशिव में पराशक्ति अधिष्ठित है ।) इस पराशक्ति के स्वाभिव्यक्त परब्रह्म परमेश्वर (शिव) में स्पन्दन मात्र से अपरा शक्ति (क्रिया

प्रधान शक्ति) समुत्थित (जाग्रत) होती है। (इस अपरा शक्ति से समलंकृत हिरण्यगर्भ, ब्रह्म आदि नामों की प्रतिष्ठा है। यह शक्ति सृष्टिकर्म में परमेश्वर की सहायता करती है) इससे परमेश्वर जगत् की रचना करने में समर्थ होते हैं ॥ ७ ॥

ततोऽहंतार्थमात्रेण सूक्ष्मशक्तिरुत्पन्ना ॥ ८ ॥

उस अपरा (सिसृक्षामयी) शक्ति से परम शिव में अहंकार मात्र से (कि मैं सृष्टि की रचना में समर्थ हूँ) सूक्ष्म शक्ति (विमर्शशक्ति) उत्पन्न होती है। (यही भगवती उमास्वरूपिणी औपनिषद ब्रह्मविद्या है।) सृष्टि के आरम्भ में अन्य की अभिव्यक्ति न रहने से एकमात्र परमेश्वर का ही अहंकार (जिसमें समस्त जगत् सूक्ष्म रूप से विलीन रहता है) अभिव्यक्त हो उठता है ॥ ८ ॥

ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता ॥ ९ ॥

उसके बाद वेदनशील (तत्वज्ञानस्वपिरूणी जगदीश्वरी) कुण्डलिनी (आत्म-विमूढ़ के लिये बन्धनकारिणी और योगाभ्यास द्वारा प्रबुद्ध होने पर मोक्षदायिनी) उदित होती है। यह शक्ति चिद्रूपिणी, चैतन्यस्वरूपिणी तथा अनिर्वचनीय महिमामयी परमेश्वरी माया है।

इस महाकुण्डलिनी शक्ति के उदय से परमशिव का साक्षात्कार सहज सम्भव हो जाता है ॥ ९ ॥

नित्यता निरञ्जनता निष्पन्दतानिराभासता निरुत्थानता इति पञ्चगुणा निजाशक्तिः ॥ १० ॥

(आदिनाथ की) निजाशक्ति के पाँच गुण (धर्म-अवस्था) हैं, पहली नित्यता है, भूत, भविष्य, वर्तमान, तीनों काल में भी इसका नाश कभी नहीं होता है। दूसरी अवस्था निरञ्जनता है, इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, रागद्वेषादि (अञ्जन) का सर्वथा अभाव है, यह निर्दोष है। तीसरी अवस्था निष्पन्दता है, यह स्थिर अथवा सर्वत्र व्याप्त है, इसका किसी भी समय, किसी भी स्थिति में अभाव अथवा लोप नहीं है, यह नित्य होने से स्थिर है, स्पन्दनशून्य है। चौथी अवस्था निराभासता है, यह भेदरहित—प्रतिबिम्बरहित है। आभास प्रतिबिम्ब है। यह एकमात्र आदिनाथ का स्वरूप है, द्वैत–अद्वैत के भेदभाव से

अतीत अथवा विवर्जित अथवा विलक्षण है, यह शिव में उपाधिगत नहीं, स्वगत है। पाँचवीं अवस्था निरुत्थानता है, परिणामरहित है, इसमें सृष्टि का भान नहीं रहता है। शिव में यह उसी तरह अभिन्न अथवा स्वरूपस्थ है, जिस तरह चन्द्रमा में चाँदनी अभिव्यक्त है। ये पाँचों गुण अथवा धर्म आदिनाथ परमेश्वर में सदा नित्य विद्यमान हैं ॥ १० ॥

अस्तिता, अप्रमेयता, अभिन्नता, अनन्तता, अव्यक्तता इति पञ्चगुणा पराशक्तिः ॥ ११ ॥

परमेश्वर शिव की पराशक्ति सृष्टि के पहले उनमें अन्तर्लीन रहती है। इसके पाँचगुण (धर्म अथवा अवस्था) हैं। पहली अवस्था अस्तिता है, वह शक्ति सनातनी अथवा अव्यय है। दूसरी अवस्था अप्रमेयता है। वह परिच्छेद-रहित होने से स्वरूपसिद्ध है। इसकी तीसरी अवस्था अभिन्नता है। वह परम शिव से नितान्त अभेद है। इसमें जगत् का भेद नहीं है, जगत् की सृष्टि के पहले से ही यह परमेश्वर मे अभिन्न रहती है। चौथी अवस्था अनन्तता है। यह ध्वंस और प्रागभाव से सर्वथा अतीत होने से अविनाशी और नित्य है। यह शक्ति नित्य और व्यापक है। पाँचवीं अवस्था अव्यक्तता है। यह सूक्ष्मता की प्रतिपादिका है, जिस तरह दूध में घी सूक्ष्म रूप से है ही, इसी तरह जगत्-कार्य के लिये पराशक्ति इस अवस्था में परम शिव में अव्यक्त रहती है—सूक्ष्म रूप से अन्तर्लीन रहती है, अतएव अव्यक्तता गुण या धर्म से विद्यमान है ॥ ११ ॥

स्फुरता, स्फुटता, स्फारता, स्फोटता स्फूर्तितेति पञ्चगुणाऽपरा शक्तिः ॥ १२ ॥

आदिनाथ परमेश्वर की अपरा शक्ति के पाँच गुण हैं। पहलागुण स्फुरता है—क्रियारूपमयी होने से इसमें संचलन है। दूसरा गुण स्फुटता है, शिव के अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित—ज्योतित होने की यह माध्यम-शक्ति है। तीसरा गुण स्फारता है, शिव की क्रिया-शक्ति—संचालन अथवा सयमन-प्रक्रिया में वह सहायता करती है। चौथा गुण स्फोटता है, यह रूपाभिव्यक्ति, शिव के कर्तृत्व-धर्म को प्रकाशित अथवा प्रकट करती है। पाँचवां गुण स्फूर्तिता है, यह सृष्टि-कार्य में परमेश्वर को उत्साहित करती है ॥ १२ ॥

निरंशता, निरन्तरता, निश्चलता, निश्चयता, निर्विकल्पतेति पञ्चगुणा सूक्ष्माशक्तिः ॥ १३ ॥

परमेश्वर शिव की सूक्ष्मा शक्ति के पाँच गुण—अवस्था अथवा धर्म हैं। (यह सूक्ष्म शक्ति विद्यारूप विमर्शशक्ति है।) इसका पहला गुण निरंशता है। इसमें अयं (यह) और त्वम् (तुम) के व्यवहार का अभाव है, सृष्टि के पहले निरंशता शक्ति सूक्ष्म रूप से 'अहम्' के रूप में अन्तर्लीन रहती है, सृष्टि के बाद 'एकोऽहं वहुस्याम' के रूप में यह व्यवहार में अभिव्यक्त होती है। दूसरा गुण निरन्तरता है। यह देश-कालकृत व्यवधान से शून्य होने के कारण परमेश्वर में निरन्तर नित्य अभिव्यक्त है। तीसरा गुण निश्चलता है, यह अच्युत है, आदिनाथ शिव में सम्पूर्ण अभिव्यक्त होकर व्याप्त है। चौथा गुण निश्चयता है, सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति है, संशय, भ्रम, द्वन्द्व आदि दोष से रहित सच्चिदानन्दस्वरूप बोध की योगज्ञानमयी शक्ति है, निरञ्जनता है। पाँचवां गुण निर्विकल्पता है, सृष्टि के पहले सिसृक्षा की संकल्प-शक्ति के रूप में परमेश्वर शिव में विशेष्य-विशेषण (उपाधि) रहित स्वाभिव्यक्त है ॥ १३ ॥

पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रबलता, प्रोच्चलता प्रत्यङ्मुखतेति कुण्डलिनी शक्तिः ॥ १४ ॥

(कुण्डलिनी महाशक्ति सहस्रार से भी परे आकाश चक्र में स्वस्थ आदिनाथ, अलख निरंजन, परमेश्वर की ज्योतिस्वरूपिणी, नित्य विहारिणी, शाश्वत लीलाधारिणी परमेश्वरी है।) यह परमेश्वर में नित्य सच्चिदानन्द स्वरूपिणी होने से पूर्ण है, अखण्ड, अनन्त, शाश्वत एकरस है। इसका पहला गुण पूर्णता है। यह सर्वव्यापक, अपरिच्छिन्न और नित्य है। शब्द-अर्थरूपगत इसका परिणाम होना ही इसकी प्रतिविम्बता है। प्रतिविम्बता इसका दूसरा गुण है। योगी द्वारा नवचक्रादिभेदनपूर्वक इसका प्रबोधन—जागरण होने पर ज्योतिरूप में उसके शरीर में यह महाशक्ति प्रतिविम्बित हो उठती है। योगी के शरीर का तेजोमय रूप में ज्योतित होना ही कुण्डलिनी की प्रतिविम्बता है। कुण्डलिनी शक्ति का तीसरा गुण प्रबलता है। यह गुण उसके महाशक्तिसम्पन्न होने का प्रतिपादक है। चौथा गुण प्रोच्चलता है। यह नित्य वर्धमान है, सुप्ताकार से जागृति—प्रबोधनरूप में नित्य-निरन्तर ज्योतित अथवा अभिव्यक्त होती रहती है। यह सदाशिव में सायुज्यलाभमयी होकर ऊर्ध्वमुखी रहती है।

पाँचवां गुण प्रत्यङ्‌मुखता (सृष्टिकर्मसम्पादन में नित्य तत्परता) है। सृष्टिकर्म के सम्पादन की सम्पूर्ण सामग्री की परिपूर्णता प्रत्यङ्‌मुखता है ॥१४॥

परपिण्डोत्पत्ति

एवं शक्तितत्त्वे पञ्च पञ्च गुणयोगात् परपिण्डोत्पत्तिः ॥ १५ ॥

इस तरह शक्तितत्व में प्रत्येक (निजा शक्ति, पराशक्ति, अपराशक्ति, सूक्ष्मा-शक्ति और कुण्डलिनी शक्ति) के पाँच-पाँच गुण, धर्म अथवा अवस्था (पचीस गुणों) में परपिण्ड (सगुण-साकार परमेश्वर के पिण्ड) की उत्पत्ति (प्राकट्य अथवा आविर्भाव) होती है। (जिस तरह हमारा पाञ्चभौतिक शरीर पञ्च भूतों का पिण्ड है और उसका अधिष्ठाता जीवात्मा है, इसी तरह शक्ति के पचीस गुणों वाले परपिण्ड—व्यापक पिण्ड का अधिष्ठाता सगुण साकार परमेश्वर है।) परपिण्ड में व्याप्त यह परमेश्वर सर्वज्ञ, चैतन्यस्वरूप, कूटस्थ, असंग, सत्स्वरूप में जगत् की सृष्टि, पालन और संहार के लिए अभिव्यक्त अथवा प्रकट है। उत्पत्ति का तात्पर्य आविर्भाव है, उत्पत्तिधर्मी का विनाश होता है, परपिण्ड की उत्पत्ति विनाशधर्मी नहीं है यह लय को प्राप्त होता है। साकार-सगुण परमेश्वर का पिण्ड द्वैताद्वैतविवर्जित अलख निरञ्जन, परमेश्वर में लय को प्राप्त हो जाता है, उसका विनाश नहीं होता है ॥ १५ ॥

उक्तञ्च—

निजापराऽपरासूक्ष्माकुण्डलिन्यासु पञ्चधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः पिण्डपरः शिवः ॥ १६ ॥

निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी, इन पाँच शक्तियों में शक्तिचक्र क्रम द्वारा सदाशिव पाँच प्रकार से प्रकट होते हैं। एक-एक शक्ति के विकास से एक-एक पिण्ड आविर्भूत होता है, इन पाँच पिण्डों के अधिष्ठातारूप पाँच देव होते हैं, यही शक्तिचक्र-क्रम है, शक्तिचक्रत्रिकोण में बिन्दु रहता है, बिन्दु से आशय है अविकृत कारण, आदिनाथ परमेश्वर, परब्रह्म शिव, सदाशिव की शक्ति के विकास के समय यह शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रिया का रूप धारण करती है। इन तीनों (गौरी, लक्ष्मी, सरस्वतीरूपिणी) शक्तियों से परमेश्वर व्यापक शिव का आविर्भाव होता है ॥१६॥

अनादि पिण्ड के पाँच तत्व और पचीस गुण

अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जन परमात्मेति ॥ १७ ॥

इन पाँच शक्तियों के (शक्तिचक्र-क्रम से) प्रकट पाँच अधिष्ठाता देव अपरम्पर सदाशिव—निजा शक्ति के अधिष्ठाता), परमपद (परमेश्वर—परा शक्ति के अधिष्ठाता), शून्य (रुद्र—अपरा शक्ति के अधिष्ठाता), निरंजन (विष्णु, रागद्वेषादिरहित, ज्ञानशक्तिविशिष्ट सूक्ष्माशक्ति के अधिष्ठाता) और परमात्मा (ब्रह्मा—कुण्डलिनी शक्ति के साक्षी जगत् के स्रष्टा) हैं ॥ १७ ॥

अपरम्परात् स्फुरतामात्रमुत्पन्नं परमपदाद् भावनामात्रमुत्पन्नं शून्यात्स्वसत्तामात्रमुत्पन्नं निरञ्जनात् स्वसाक्षात्कारमात्रमुत्पन्नं परमात्मनः परमात्मोत्पन्नः ॥ १८ ॥

अपरम्पर (सदाशिव) से स्फुरता (उत्साह), परमपद (परमेश्वर) से भावना (समालोचनात्मक—क्रियासामान्य ज्ञान), शून्य (रुद्र) से स्वसत्तामात्र, निरञ्जन (विष्णु) से स्वसाक्षात्कारमात्र (अहंकार) और परमात्मा (ब्रह्मा) से सृष्टि के उत्पादन के लिये उपयोगी (बीजरूप) समष्टिपिण्ड उत्पन्न हैं। यह समष्टिपिण्ड अस्मदादि व्यष्टिपिण्डों की अपेक्षा उत्कृष्ट है, इसलिये यह परमात्मा कहा गया है ॥ १८ ॥

अकलंकत्वमनुपमत्वमपारत्वममूर्तत्वमनुदयत्वमिति पञ्चगुणमपरम्परम् ॥ १९ ॥

अपरम्पर (सदाशिव) के पाँच गुण हैं। पहला गुण अकलंकत्व (दोषशून्यता—रागद्वेषादि का अभाव) है। दूसरा गुण अनुपमत्व (सजातीयतारहित—अद्वितीय सत्तामात्र) है। तीसरा गुण अपारत्व असीमत्व (अनन्तता) है। चौथा गुण अमूर्तत्व (परिच्छेदरहितता—अमापकत्व) है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति'। (श्वेताश्वतर ४। १९) पाँचवां गुण अनुदयत्व (प्रागभावशून्यता) है, क्योंकि वह उत्पत्ति से परे है, सर्वव्यापक, अकाल और सनातन—शाश्वत है ॥ १९ ॥

निष्कलत्वमणुतरत्वमचलत्वमसंख्यत्वमनाधारत्वमिति पञ्चगुणं परमपदम् ॥ २० ॥

परमपद (परमेश्वर) निष्कल (अवयवशून्य निराकार), अणु-से-भी अणु (सूक्ष्म), अचल (व्यापक), असंख्य (अद्वय) और निराधार (आधार-रहित, स्वाश्रित अथवा स्वाभिव्यक्त) है। ये ही परमेश्वर परमपद के पाँचगुण हैं ॥ २० ॥

लीनता, पूर्णतोन्मनी, लोलता, मूर्च्छेति पञ्चगुणं शून्यम् ॥ २१ ॥

शून्य (रुद्र) के पाँच गुण—धर्म हैं। पहला गुण लीनता (अव्यक्तावस्था) है –, कारण में कार्य का लय ही लीनता है। दूसरा गुण पूर्णता (सर्वव्यापकता, अखण्डता) है। तीसरागुण उन्मनी (सहज स्वरूप में प्रतिष्ठा) है, चौथागुण लोलता (संहार आदि कार्यसम्पादन में तरलता) है और पाँचवां गुण मूर्च्छा (महाप्रलय में एकरसात्मक भावापन्नता, विलीनता) है ॥ २१ ॥

सत्यत्व सहजत्वं समरसत्वं सावधानत्वं सर्वगतत्वमिति पञ्च-गुणंनिरञ्जनम् ॥ २२ ॥

निरञ्जन (रागद्वेषादि से रहित—द्वन्द्वातीत विष्णु) पाँचगुणों से युक्त है। पहला गुण सत्यत्व (तीनों काल में अकाल रूप से उत्पत्ति-विनाश से परे सच्चिदानन्दस्वरूपत्व) है। दूसरा गुण सहजत्व (स्वरूपस्थता) है, तीसरा गुण समरसता (निर्विकारता) है, चौथा गुण सावधानता (प्रमादादिदोष-रहितता) है और पाँचवां गुण सर्वगतत्व (सर्वव्यापकत्व) है ॥ २२ ॥

अक्षयत्वमभेद्यत्वमच्छेद्यत्वमविनाशित्वमदाह्यत्वमिति पञ्च-गुणः परमात्मा । इत्यनादिपिण्डस्य पञ्चतत्वं पञ्चविंशति गुणाः ॥ २३ ॥

परमात्मा (ब्रह्मा:सृष्टिकर्ता) के पाँच गुण हैं। पहला गुण अक्षयत्व (संसाररूप उपाधि के क्षय होने पर भी स्वरूप की अक्षयता-सत्ता) है। दूसरा गुण अभेद्यता (अनेक उपाधिगत भेद रहने पर भी स्वरूप में अभेद रहना) है, तीसरा गुण अच्छेद्यता (शाश्वत-सनातन सत्ता में अधिष्ठता) है, चौथा गुण अविनाशित्व (उत्पत्ति-विनाश के अभाव में स्वाभिव्यक्तता) है और पाँचवां गुण

अदाह्यत्वं (आन्तरिक आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविधि ताप अतीतता) है। यही अनादि पिण्ड पञ्चतत्वात्मक सदाशिवादि (अपरम्पदादि) के पचीस गुण अथवा धर्म का निरूपण है ॥ २३ ॥

उक्तञ्च । अपरम्परं, परमपदं, शून्यं, निरञ्जनपरमात्मानौ, पञ्चभिरेतैः सगुणैरनाद्यपिण्डः समुत्पन्नः ॥ २४ ॥

महाप्रलय में समस्त जगत् महाशक्ति में लय को प्राप्त होकर विलीन रहता है। चिद्रूपा महाशक्ति भी चिद्रूप परमेश्वर से अभिन्न रहती है। सृष्टि की रचना के समय पाँच-पाँच गुणों से युक्त पाँच महाशक्तियों का प्राकट्य होता है, (वे (पाँच- पाँच देवों से) पृथक्-पृथक् (कार्य-भेद से) युक्त होती हैं।) ये ही पाँच देव--शक्यिों के अनुरूप अपरम्पर, परमपद, शून्य, निरञ्जन और परमात्मा हैं—, इन सभी पाँच प्रधान महाशक्तियों के सहित चेतन का नाम ही अनाद्य पिण्ड है। यही सच्चिदानन्दघनस्वरूप परमेश्वर ही उपर्युक्त गुण और नाम से पाँच रूपों में स्वाकारित—अभिव्यक्त होता है। यह स्वरूपाभिव्यक्त समष्टिदेव ही परमेश्वर शिव हैं, आदिनाथ हैं ॥ २४ ॥

महासाकार आद्यपिण्ड पुरुष की उत्पत्ति, उसके पाँच तत्व और पचीस गुण

अनाद्यात् परमानन्दः परमानन्दात् प्रबोधः प्रबोधाच्चिदुदयश्चिदुदयात्चित्प्रकाशः चित्प्रकाशात् सोऽहं भावः ॥ २५ ॥

(अनाद्यपिण्ड परमेश्वर से आद्यपिण्ड पुरुष की अभिव्यक्ति का वर्णन है।) अनाद्य पिण्ड से परमानन्द, परमानन्द से प्रबोध, प्रबोधसेचिदुदय, चिदुदय से चित्प्रकाश और चित्प्रकाश से अहं भाव उत्पन्न—रूपाभिव्यक्त हैं ॥ २५ ॥

विशेष--इस आद्य पुरुष परमेश्वर के भी पाँच-पाँच गुणों से विशिष्ट युक्त पाँच देवों के निरूपण-क्रम में महातत्वगत पंचभूतबीजोत्पत्ति का प्रतिपादन है।

स्पन्दो हर्ष उत्साहो निष्पन्दो नित्यसुखत्वमिति पंचगुणाः परमानन्दः ॥ २६ ॥

परमानन्द के पाँच गुण हैं। पहला गुण स्पन्द (चलन-शक्ति) है, दूसरा गुण हर्ष (आनन्द) है, तीसरा गुण उत्साह (कृतिशक्ति) है, चौथा गुण निष्पन्द

(परिणामशक्ति) है और पाँचवां गुण नित्यसुखत्व (स्वरूप में सुखानुभव की शक्ति) है ।। २६ ।।

उदय उल्लासोऽवभासो विकासः प्रभा इति पंचगुणः प्रबोधः ।। २७ ।।

प्रबोध के पाँच गुण हैं । पहला गुण उदय (उत्पत्ति) है, दूसरा गुण उल्लास (चित्त की प्रफुल्लता) है, तीसरा गुण अवभास (ज्ञान) है, चौथा गुण विकास (विकसित-अभिव्यक्त होना) है और पाँचवां गुण प्रभा (तेज अथवा स्वरूप-प्रकाश) है ।। २७ ।।

सद्भावो विचारः कर्तृत्वं ज्ञातृत्वं स्वतन्त्रत्वमिति पंचगुणश्चिदुदयः ।। २८ ।।

चिदुदय के पाँच गुण हैं । पहला गुण सद्भाव (सनातनता, नित्यता) है । दूसरा गुण विचार (नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक) है । तीसरा गुण कर्तृत्व (कर्तापन का स्वभाव) है । चौथा गुण ज्ञातृत्व (जानने का स्वभाव) है । पाँचवां गुण स्वतन्त्रत्व (अद्वय, अनुपम, स्वाश्रयी अथवा स्वाभिव्यक्त रहना) है ।। २८ ।।

निर्विकारत्वं निष्कलत्वं निर्विकल्पत्वं समता विश्रान्तिरिति पञ्चगुणः चित्प्रकाशः ।। २९ ।।

चित्प्रकाश (देव) के पाँच गुण हैं । पहला गुण निर्विकारत्व (उत्पत्ति, वृद्धि आदि विकारों का अभाव) है । दूसरा गुण निष्कलत्व (अवयय आदि न होना) है । तीसरा गुण निर्विकल्पत्व (संशयरहितता) है । चौथा गुण समता (सर्वत्र एकरूपता अथवा एकरस व्याप्त रहना) है । पाँचवां गुण विश्रान्ति (निर्विषयता अथवा विषयों से उपरामता) है ।। २९ ।।

अहन्ताऽखण्डैश्वर्यं स्वात्मता विश्वानुभवसामर्थ्यं सर्वज्ञत्वमिति पञ्चगुणः सोऽहंभावः । इत्याद्यपिण्डस्य पञ्चतत्त्वं पञ्चविंशति गुणाः । परमानन्दः प्रबोधश्चिदुदयश्चित्प्रकाशः सोऽहंभाव इत्यन्त आद्यपिण्डो महातत्त्वयुक्तः समुत्थितः ।। ३० ।।

सोऽहं भाव के पाँच गुण हैं। पहला गुण अहंता है—मैं ही सर्वत्र व्यापक हूँ। दूसरा गुण अखण्ड ऐश्वर्य है। तीसरा गुण स्वात्मता (सर्वत्र आत्मबुद्धि—सब में अपने आपको व्याप्त देखना) है। चौथा गुण विश्वानुभवसामर्थ्य—स्थूल और सूक्ष्म समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति है और पाँचवां गुण सर्वज्ञत्व अतीत और अनागत विषयक ज्ञान की शक्ति है। इस तरह आद्यपिण्ड के परमानन्दादि पाँच देवता ही पाँच अंग हैं तथा प्रत्येक के अंग में पाँच-पाँच गुण ही पचीस गुण हैं। इन्हीं परमानन्द आदि पाँच देवों का समवाय महत्तत्व रूप आद्यपिण्ड है। यही आद्यपिण्ड पुरुष हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ३० ॥

आद्यान्महाकाशो महाकाशान्महावायुर्महावायोर्महातेजो महातेजसो महासलिलं महासलिलान्महापृथ्वी ॥ ३१ ॥

पाँच भूतों का कारण आद्यपिण्ड सूत्रात्मा है। उससे महाकाश उत्पन्न है; महाकाश से महावायु उत्पन्न है, महावायु से महातेज उत्पन्न है, महातेज से महासलिल उत्पन्न है, महासलिल से महापृथ्वी उत्पन्न है ॥ ३१ ॥

अवकाशोऽच्छिद्रमस्पृशत्वं नीलवर्णत्वं शब्दत्वमिति पञ्च-गुण अवकाशः ॥ ३२ ॥

आकाश के पाँच गुण हैं। पहला गुण अवकाश है, पोल होने से यह समस्त पदार्थों का आश्रय है। दूसरा गुण अच्छिद्रत्व—छेद न होना है। आकाश में छिद्र नहीं है। तीसरा गुण अस्पृशत्व है, इसका स्पर्श नहीं किया जा सकता है, यह असंग है। चौथा गुण नीलवर्णत्व है, यह आकाश नीले वर्ण (रंग) का है। पाँचवां गुण शब्दत्व है, यह आकाश शब्द (ध्वनि) से परिपूर्ण है ॥ ३२ ॥

सञ्चारः सञ्चालनं स्पर्शनं शोषणं धूम्रवर्णत्वमिति पञ्च-गुणो महावायुः ॥ ३३ ॥

महावायु के पाँच गुण हैं। पहला गुण सञ्चार है, वायु चलने की क्रिया युक्त रहती है। दूसरा गुण सञ्चालन है। स्वयं चलती रहने से यह अन्य पदार्थों को भी चलाती रहती है। तीसरा गुण स्पर्श है। यह समस्त पदार्थों का स्पर्श करती रहती है। चौथा गुण शोषण है, यह जलादि से युक्त पदार्थों को सुखाती है। पाँचवां गुण धूम्रवर्णत्व है, वायु धूम के रंग की होती है ॥ ३३ ॥

दाहकत्वं पाचकत्वमुष्णत्वं प्रकाशत्वं रक्तवर्णत्वमिति पञ्चगुणं महातेजः ।। ३४ ।।

महातेज के पाँच गुण हैं। पहला गुण दाहकत्व है, यह पृथ्वी और जल में दाहकत्व पहुँचा कर उन्हें जलाता है। इसका दूसरा गुण पाचकत्व है, यह जठरादि में भोजन आदि सामग्री को पचाता है। तीसरा गुण उष्णत्व है। यह पदार्थों में उष्णता पैदा करता है। चौथा गुण प्रकाश है। यह सभी पदार्थों को प्रकाशित प्रत्यक्ष करता है। पाँचवां गुण रक्तवर्णत्व है। यह लाल रंग का होता है ।। ३४ ।।

महाप्रवाह आप्यायनं द्रवो रसः श्वेतवर्णत्वमिति पञ्चगुणं सलिलम् ।। ३५ ।।

सलिल (जल) के पाँच गुण होते हैं। पहला गुण प्रवाह है, यह बहता रहता है। दूसरा गुण आप्यायन है, यह उमड़ता रहता है। तीसरा गुण द्रव है, यह द्रवित (पिघलता) रहता है। चौथा गुण रस है, यह स्वाभाविक मधुर और आस्वाद्य होता है। इसका पाँचवां गुण श्वेतवर्णत्व है, यह श्वेत रंग का होता है, निर्मल रहना इसका स्वभाव है ।। ३५ ।।

स्थूलता नानाकारता काठिन्यं गन्धः पीतवर्णत्वमिति पञ्चगुणा महापृथ्वी । इति महासाकारपिण्डस्य पञ्चतत्त्वं पञ्चविंशति गुणाः ।। ३६ ।।

महापृथ्वी के पाँच गुण हैं। पहला गुण स्थूलता है, यह स्थूल है। दूसरा गुण नानाकरता है, पर्वत, तरु, लता, सम, विषम रूप धारण करना इसका स्वभाव है। तीसरा गुण काठिन्य है, यह कड़ी होती है। चौथा गुण गन्ध है। पाँचवां गुण पीतवर्णत्व है, इसका रंग पीला होता है। चित्-अचित् विशिष्ट महासाकार पिण्ड, पञ्चभूतात्मक समष्टिरूप पिण्ड के आकाशादि पाँच रूप अथवा अंग हैं। एक-एक अंग के पाँच-पाँच गुण हैं। इस तरह महासाकार पिण्ड के पाँच तत्त्वात्मक पचीस गुण हैं। यह महासाकार पिण्ड पञ्चतत्वात्मक और पचीस गुणों से विशिष्ट (शिवात्मक) है ।। ३६ ।।

महासाकार पिण्ड की आठ मूर्ति

स एव शिवः शिवाद् भैरवो भैरवात् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठात् सदाशिवः सदाशिवादीश्वर ईश्वराद्रुद्रो रुद्राद्विष्णु र्विष्णो-र्ब्रह्मेति महासाकारपिण्डस्य मूर्त्यष्टकम् ॥ ३७ ॥

महासाकार पिण्ड पञ्चानन शिव की आठ मूर्ति—आकृति (रूप) है । वह शिव है । शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मा अभिव्यक्त हैं ।) इन्हीं आठों के द्वारा सृजन, नियमन (रक्षण) और संहार के कार्य सम्पादित होते हैं । ये ही संसारग्रस्त जीवों को बन्धनमुक्त कर भवसागर से तार देते हैं, अतएव सभी मुमुक्षुओं के लिये अभीष्ट पूर्तिहेतु ये ही उपास्य अथवा पूज्य हैं ।) इस तरह एक महासाकार पिण्ड शिव से आठ रूपों की अभिव्यक्ति है ॥ ३७ ॥

नरनारीरूप प्रकृतिपिण्ड की उत्पत्ति और पंचभूतों के पचीस गुण

तद् ब्रह्मणः सकाशादवलोकनेन नरनारीरूपप्रकृतिपिण्डः समुत्पन्नस्तच्च पञ्चपञ्चात्मकं शरीरम् ॥ ३८ ॥

(नरनारीरूप प्रकृतिपिण्ड की सृष्टि का वर्णन किया जाता है । (सबसे पहले ब्रह्मा के अवलोकन—ईक्षणरूप संकल्प से स्त्रीसम्पुटित पुरुपप्रकृतिपिण्ड (शतरूपासहित मनुप्रजापति) की समुत्पत्ति होती है । (इसके उपरान्त जरायुजादि भौतिक (पञ्चभूतात्मक) शरीरों की उत्पत्ति है ।) यही प्रकृतिपिण्ड भूमि आदि पंचभूतों के पाँच गुणों से युक्त होने से पाञ्चभौतिक शरीर कहा जाता है ॥ ३८ ॥

अस्थिमांसत्वङ् नाड़ीरोमाणीति पञ्चगुणा भूमिः ॥ ३९ ॥

(इस पाञ्चभौतिक शरीर में पृथ्वी का अंश अधिक है, इसलिये यह शरीर पार्थिव कहा जाता है ।) इस भौतिक शरीर में पृथ्वीतत्व के पाँच गुण हैं, इसका पहला गुण अस्थि है, दूसरा गुण मांस है, तीसरा गुण त्वचा है, चौथा गुण नाड़ी है

और पाँचवां गुण रोम (बाल) है। शरीर के रचनाक्रम में पृथ्वीतत्व के गुण के रूप मे अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी और रोम ही मुख्य हेतु हैं ॥ ३९ ॥

लाला मूत्रं शुक्रं शोणितं स्वेद इतिपञ्चगुणा आपः ॥ ४० ॥

भौतिक शरीर में स्थित जल तत्व के पाँच गुण लार, मूत्र, शुक्र, (वीर्य) शोणित (रक्त) और स्वेद पसीना हैं। जलीय द्रव्य के रूप में भौतिक शरीर की संरचना में ये पाँचों अंश मुख्य हेतु हैं ॥ ४० ॥

क्षुधा तृषा निद्रा कान्तिरालस्यमिति पञ्चगुणं तेजः ॥ ४१ ॥

भौतिक शरीर में तेज (पावक—अग्नि) तत्व के पाँच गुण क्षुधा, तृषा (प्यास) निद्रा, कान्ति और आलस्य हैं। तेज तत्व के रूप में भौतिक शरीर की संरचना में ये पाँचों अंश मुख्य हेतु हैं ॥ ४१ ।

विशेष—निद्रा को अग्नि तत्व का गुण इसलिये कहा गया है कि पेट भर भोजन करने के बाद पेट में गर्मी की अधिकता से पित्त नाड़ियों में व्याप्त होता है, मन का नाड़ियों में सञ्चार (भ्रमण) बन्द हो जाने से निद्रा आती है। इसी तरह नाड़ियों में पित्त के व्याप्त हो जाने पर आलस्य आता है।

धावनं भ्रमणं प्रसारणमाकुञ्चनं निरोधनमिति पञ्चगुणो वायुः ॥ ४२ ॥

भौतिक शरीर में वायु की स्थिति ही उसकी सजीवता अथवा प्राणमयता है। शरीर में स्थित वायु के पाँच गुण धावन (वेगपूर्वक संचरण), भ्रमण (प्रत्येक नाड़ी में प्रवहन), प्रसारण (फैलना), आकुञ्चन (समेटना—स्वाभिमुख-संयोगानुकूल व्यापार और निरोध (नियतदेशसंयोगानुकूल व्यापार) हैं। शरीरस्थ वायु के ये पाँच गुण शरीर के जीवित रहने में मुख्य हेतु हैं ॥ ४२ ॥

रागो द्वेषो भयं लज्जा मोह इति पञ्चगुण आकाशः इति पञ्चविंशति गुणानां भूतानां पिण्डः ॥ ४३ ॥

भौतिक शरीर में व्याप्त आकाश तत्व के पाँच गुण राग, द्वेष, भय, लज्जा और मोह शरीरगत व्यवहार में मुख्य हेतु हैं। इन्हीं के आश्रय में शरीर में द्वन्द्व भावों की उत्पत्ति होती है। (यद्यपि ये रागद्वेषादि अन्तःकरण के धर्म हैं तथापि इनके निवास-स्थान हृदयाकाश का भूताकाश से भेद नहीं है।) इस तरह प्रत्येक भूत के पाँच-पाँच गुण अथवा धर्म से (पचीस गुणों से) पिण्ड--शरीर उत्पन्न होता है॥ ४३ ॥

अन्तःकरणपंचक

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चैतन्यमित्यन्तःकरण-पञ्चकम् ॥ ४४ ॥

(स्थूल पिण्ड-शरीर के संचालक सूक्ष्मशरीरादिपर्यन्त लिङ्गात्मा का वर्णन किया जाता है।) यद्यपि अवयवी अन्तःकरण है तथापि उसके अवयव के रूप में मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त और चैतन्य के रूप में अन्तःकरण की पाँच वृत्तियाँ हैं। यही अन्तःकरणपञ्चक कहा गया है॥ ४४ ॥

संकल्पो, विकल्पो, मूर्च्छा, जड़ता, मननमिति पञ्चगुणं मनः ॥ ४५ ॥

मन के पाँच गुण अथवा धर्म हैं। पहला गुण संकल्प है। यह पदार्थ मुझे मिल जाय अथवा मेरे द्वारा यह कार्य सम्पन्न हो जाय, इस आशा को संकल्प कहा जाता है। संशयात्मक विचार— यह पदार्थ ऐसा है या नहीं है, इसको विकल्प कहा जाता है। मन की यह दूसरी अवस्था है। मन का तीसरा गुण मूर्च्छा है, मन की मुग्धता, विमूढ़ता अथवा अचेत वृत्ति को मूर्च्छा कहा जाता है। मन का चौथा गुड़ जड़ता है। विवेक का अभाव ही जड़ता है। मन का पाँचवां गुण मनन है। मनन का आशय है तर्कसंगत विचार॥ ४५ ॥

विवेको, वैराग्यं, शान्तिः, सन्तोषः, क्षमेति पंचगुणा बुद्धिः ॥ ४६ ॥

बुद्धि के पाँच गुण हैं। पहला गुण विवेक है। वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निश्चय ही विवेक है। (विवेक हो जाने पर वैराग्य का उदय होता है।)

सद्वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर लोक-परलोक के विषयभोग और पुण्यफलभोग में मन की आसक्ति का समाप्त हो जाना ही वैराग्य है। यह बुद्धि का दूसरा गुण है। बुद्धि का तीसरा गुण शान्ति है। (विवेक और वैराग्य हो जाने पर मन में शान्ति-वृत्ति का उदय होता है।) चित्त में चञ्चलता अथवा विषयभोग की कामना में उपरामता की वृत्ति ही शान्ति है। मन शान्त हो जाता है। बुद्धि का चौथा गुण संतोष है। जब विवेक, वैराग्य और भोग में अनासक्ति का बुद्धि में उदय होता है, तब मन सहज संतुष्ट होकर आत्मस्वरूप में ही तृप्त रहने का स्वभाव ग्रहण करता है।। बुद्धि की यही वृत्ति संतोष है। पाँचवां गुण क्षमा है। विवेक, वैराग्य, शान्ति और संतोष से मन राग-द्वेष से प्रभावित नहीं होता है। वह सहनशील होकर दूसरे जीव में दोष-दर्शन नहीं करता और दोष बन जाने पर भी उसे दण्डित करने की भावना का त्याग कर देता है। यह आत्मोदय की वृत्ति है। यह आत्मोदय की वृत्ति ही स्थितप्रज्ञता की भूमिका है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २।५५–५७)

जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को अच्छी तरह त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो निःस्पृह है तथा जिसमें राग, भय, क्रोध नहीं रह जाते, वह स्थिरबुद्धि है। जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित होकर शुभाशुभ की प्राप्ति में प्रसन्न और द्वेषयुक्त नहीं होता, उसी की बुद्धि स्थिर है।

अभिमानं, मदीयं, मम सुखं, मम दुःखं, ममेदमिति पञ्चगुणोऽहंकारः॥ ४७॥

अहंकार की पाँच वृत्तियाँ हैं। पहली अवस्था अभिमान है। मैं ही इस तरह का कार्य करने में समर्थ हूँ, ऐसा विचार ही अभिमान है। दूसरी अवस्था

मदीय (यह वस्तु मेरी) है, शरीर, इन्द्रियादि मेरे हैं। तीसरी वृत्ति मम सुख— इस सुख से मेरा ही एकमात्र सम्बन्ध है—इस भावना की प्रतिपादिका है। चौथी वृत्ति मम दुख—मैं इससे दुःखी हूँ, इस दुःखपरक अवस्था से सम्बन्ध स्थापित करती है। पाँचवीं वृत्ति ममेदम् –यह पदार्थ मेरा है, ये मेरे सम्बन्धी हैं, आदि की परिचायिका है ।। ४७ ।।

मतिर्धृतिस्मृतिस्त्यागः स्वीकार इति पञ्चगुणं चित्तम् ।। ४८ ।।

चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं। पहली वृत्ति मति है, मति का आशय है इच्छा। दूसरी वृत्ति धैर्य—उत्साह है। तीसरी वृत्ति स्मृति है, संस्कार-मात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्मृति कहा गया है। चौथी वृत्ति त्याग है। उत्तम पात्र को अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का उसकी सुखेच्छा की तृप्ति के लिये दान कर देना ही त्याग है। पाँचवीं वृत्ति स्वीकार है, इसका आशय है दाना-नुकूल और ग्रहणानुकूल के व्यापार-अनुक्रम से किसी पदार्थ या भाव को स्वीकार करना ।। ४८ ।।

बिमर्शः शोलनं धैर्यं चिन्तनं निःस्पृहत्वमिति पञ्चगुणं चैतन्यमेवमन्तःकरणगुणाः ।। ४९ ।।

चैतन्य के पाँच गुण अथवा धर्म हैं। पहला गुण विमर्श है। प्रमाण के माध्यम से वस्तु का विचार ही विमर्श है। शीलन दूसरा धर्म है, इसका आशय है तत्परतापूर्वक बार-बार पदार्थ अथवा भाव के गुण-दोष की यथार्थज्ञानप्राप्ति में लगे रहना। तीसरा धर्म धैर्य है। बड़ी-से-बड़ी विपत्ति के आ जाने पर भी कार्य से विमुख न होना तथा शरीर-मन और इन्द्रियों को निरन्तर उत्साहित करते रहना ही धैर्य है। चौथा गुण चिन्तन है। इसका आशय है बार-बार अपने द्वारा सम्पादित होने वाले कार्य के प्रति सावधान रहना। पाँचवां गुण निःस्पृहत्व है। संसार के विषय-भोगों में मन को आसक्त न होने देना तथा उसको विवेक-वैराग्यपूर्वक आत्माभिमुख रखना ही निःस्पृहता है। ये ही अन्तःकरण के पचीस गुण हैं। इस तरह सूक्ष्म-शरीर का वर्णन किया गया ।। ४९ ।।

कुलपंचक

सत्त्वं रजस्तमः कालो जीव, इति कुलपञ्चकम् ॥ ५० ॥

सत्व, रज और तम (तीनों गुण) काल और जीव (इन पाँचों) की भाव, मन और बुद्धि और इन्द्रिय आदि के संचालन में प्रधानता रहती है । इस कारण ये पाँच कुल अर्थात् प्रधान कहे गये हैं (योगतन्त्र में इन्हें कुलपंचक कहा गया है ।) ॥ ५० ॥

दया, धर्मः, क्रियाभक्तिः श्रद्धेति पञ्चगुणं सत्त्वम् ॥ ५१ ॥

सत्व गुण के पाँच कार्यरूप गुणों का वर्णन किया जाता है । पहला गुण दया—प्राणियों पर अनुग्रह करना है । दूसरा गुण धर्म है, जिससे सुख की प्राप्ति और श्रेय का अभ्युदय हो, वह धर्म है । तीसरा गुण क्रिया है, पूजा आदि सत्कर्म और पुण्याचरण तथा भगवत्प्रीत्यर्थ व्रतोपवास-अनुष्ठान आदि क्रिया है । चौथा गुण भक्ति है । परमेश्वर में भक्ति—प्रीति ही भक्ति है । भक्ति से परमेश्वर की शरणागति प्राप्त होती है । इससे योगी को समाधिसिद्धि होती है । महर्षि पतञ्जलि का अभिमत है :

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥
(योगदर्शन २ । ४५)

पाँचवां गुण श्रद्धा है । श्रद्धा से इस लोक के अतिरिक्त परलोक के अस्तित्व तथा स्वरूपावस्थानपरक आत्मज्ञान (परमात्मा के प्रति विश्वास) में निष्ठा होती है ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥
(गीता १४ । ५–६)

सत्वगुण निर्मलता के कारण प्रकाश करने वाला और विकार रहित होता है । यह जीवात्मा को सुख और ज्ञान के सम्बन्ध से प्रभावित करता है । गीता

(१४।६) में कहा गया है---'सत्वं सुखे संजयति ।' (सत्व सुख में लगाता है।) इन्द्रियों में चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है। 'सत्वात् संजायते ज्ञानम्' (गीता १४।१७) – सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है ।। ५१ ।।

दानं भोगः शृङ्गारो वस्तुग्रहणं स्वार्थसंग्रहणमिति पञ्चगुणं रजः ।। ६२ ।।

रजोगुण से दान, भोग, शृङ्गार, वस्तुग्रहण और संग्रह में प्रवृत्ति होती है। यह जीव को कर्म से बन्धनयुक्त करता है। रजोगुण रागरूप है । यह कामना और आसक्ति (तृष्णा) से उत्पन्न होता है। जीवात्मा इसके द्वारा कर्मफल की प्राप्ति की स्पृहा करता है। रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धि से कर्मों का सकाम भाव से आरम्भ, अशान्ति, विषयभोग की लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं। राजस कर्म का फल दुःख है। 'रजसस्तु फलं दुःखम् ।' (गीता १४।१६) रजोगुण से लोभ बढ़ता है । रजोगुण का पहला गुण दान है, भविष्य में अथवा जन्मान्तर में फल-प्राप्ति की कामना से देश-काल के अनुसार सत्पात्र का विचार कर यथाशक्ति धन अथवा पदार्थ प्रदान करना दान है । दूसरा गुण भोग है। सुन्दर रूप, रस, गन्ध शब्द, स्पर्शादि की कामना में प्रवृत्त होना भोग है। तीसरा गुण शृङ्गार है, मोक्ष-प्राप्ति के लिये नहीं, विषयभोग की इच्छा की पूर्ति के लिये शरीरादि को समलंकृत करना शृङ्गार है। चौथा गुण वस्तुग्रहण है। अपने भोग-सुख के लिये वस्तु के ग्रहण और संचय में आसक्त रहना वस्तुग्रहण है। पाँचवां गुण स्वार्थ-संग्रहण है । दूसरे की हानि होगी, दुःख होगा—इन बातों का विचार किये बिना अपने स्वार्थ की तृप्ति के लिये वस्तु और विषय-भोग में सहायक उपकरणों के संग्रह में अभिरुचिपूर्वक उन्हें सुरक्षित रखना ही स्वार्थ-संग्रहण है ।। ५२ ।।

विवादः कलहः शोको वधो वञ्चनमिति पञ्चगुणं तमः । ५३ ।।

तमोगुण की पाँच वृत्तियाँ हैं। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। देहाभिमानियों को मोहग्रस्त कर प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बन्धनमुक्त करता है। तमोगुण के बढ़ने पर अन्तः करण और इन्द्रियों में अप्रकाश (अन्धकार) कर्तव्य मे अप्रवृत्ति, मोहिनी प्रमादमयी वृत्तियों का जन्म होता है । तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।
(गीता ५ । १७)

तम का पहला गुण विवाद है। इससे व्यर्थ प्रलाप में समय निष्प्रयोजन बीत जाता है। तम का दूसरा गुण कलह है। तमोगुणी व्यक्ति अविवेकी होने से दूसरों से कलह करने में सुख मानता है। तम का तीसरा गुण शोक है। तम का चौथा गुण वध है। तमोगुणी व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये दूसरे प्राणी को मार डालने में संकोच नहीं करता है। तम का पाँचवां गुण वञ्चन है। तमोगुणी व्यक्ति दूसरों को ठगने में प्रवृत्त रहता है ॥ ५३ ॥

कलना, कल्पना, भ्रान्तिः प्रमादः अनर्थ इति पञ्चगुणः कालः ॥ ५४ ॥

काल की पाँच अवस्थायें अथवा गुण हैं। पहली अवस्था कलना –एक, दो, तीन आदि की संख्या गिनना, आयु आदि की गणना करना है। दूसरी अवस्था कल्पना—अनेक वस्तु-रचना की सामर्थ्य है -वसन्त है, हेमन्त है—इत्यादि। तीसरी अवस्था भ्रान्ति है। बुढ़ापा, यौवन, वचपन आदि में परिवर्तन-निमित्तता भ्रान्ति है। चौथी अवस्था प्रमाद है। असावधानी में उत्पन्न कार्य में प्रवृत्ति—व्यर्थ आलस्य आदि में समय विताना प्रमाद है। पाँचवीं अवस्था अनर्थ है। अनिष्ट कार्य में लगना अनर्थ का द्योतक है ॥ ५४ ॥

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तिस्तुरीयातुर्यातीतमिति पञ्चगुणो जीवः ॥ ५५ ॥

जीव की पाँच अवस्थायें हैं। पहली जाग्रत् अवस्था है। स्थूल-शरीर में इन्द्रियों द्वारा कर्म होते रहने का भान अथवा ज्ञान जाग्रत् अवस्था है। दूसरी स्वप्न-अवस्था है। वाह्य इन्द्रियों के कार्यकलाप शान्त होने पर मन में (अचेतावस्था में) अनेक वस्तु आदि का व्यवहार होते रहना स्वप्नावस्था है। तीसरी सुषुप्ति-अवस्था है। इसमें वाह्य इन्द्रियों और मन के व्यापार–कार्य के निरोध से निद्रा की स्थिति ही सुषुप्ति है। चौथी तुर्यावस्था है। इसमें आत्मस्वरूपविषयक एकाग्रचित्तता वनी रहती है। आत्मस्वरूपविषयक मनोवृत्ति और द्वैतप्रपंच की अप्रतीति ही तुर्यावस्था का लक्षण है। पाँचवीं तुर्यातीत अवस्था में निर्विकल्प समाधि में जीव प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ५५ ॥

व्यक्तिपंचक और उसके पचीस गुण

इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृतिर्वागिति व्यक्तिपञ्चकम् ।।५६।।

सूक्ष्म-शरीर में जिन-जिन गुणों से व्यवहार का सम्पादन होता है, वे इच्छा क्रिया, माया, प्रकृति और वाक्–पाँच गुण हैं । जीव के उपभोगसाधन में ये व्यवहार में तत्पर रहते हैं, इन्हें व्यक्तिपंचक कहा जाता है ।। ५६ ।।

उन्मादो, वासना, वाञ्छा, चिन्ता चेष्टेति पञ्च-गुणेच्छा ।। ५७ ।।

इच्छा के कार्यभूत पाँच व्यापार–गुण हैं । पहला उन्माद है, इच्छा भंग होने पर उन्माद होता है । स्वकर्तव्य-निर्वाह में पहले किये गये कर्मों के संस्कार के अनुरूप शरीर, इन्द्रिय मन आदि को प्रवृत्त करना वासना है धन आदि पदार्थों की प्राप्ति की कामना वाञ्छा है । वासना और वाञ्छा यथाक्रम दूसरे और तीसरे गुण हैं । चौथा गुण चिन्ता है । इष्ट विषय के अन्वेषण की इच्छा चिन्ता है । पाँचवां गुण चेष्टा है, शरीर का व्यापार ही चेष्टा है, कार्य की पूर्ति में शरीर का प्रयासरत होना ही चेष्टा है ।। ५७ ।।

स्मरणं उद्योगः कार्यं निश्चयः स्वकुलाचार इति पञ्चगुणा क्रिया ।। ५८ ।।

क्रिया के पाँच गुण अथवा अवस्थायें हैं । संसार के व्यवहार में स्मृति-ज्ञान के उत्पादक व्यापार को स्मरण कहा जाता है । साधनजनक व्यापार को उद्योग कहा जाता है । घट-पटादि उत्पन्न करने वाला व्यापार (मन की वृत्ति को क्रियात्मक रूप देना) ही कार्य है । निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न करने वाली इन्द्रियादि तथा मन की क्रिया ही निश्चय है और अपनी कुलपरम्परागत मर्यादा के पालन में मन की प्रवृत्ति ही स्वकुलाचार है । ये ही पाँचों क्रिया के गुण हैं ।। ५८ ।।

मदो, मात्सर्यं, दम्भः कृत्रिमत्त्वमसत्यमिति पञ्चगुणा माया ।। ५९ ।।

माया के पाँच रूप हैं। पहला मद है। मद से युक्त प्राणी कहता है कि मैं ही बलवान हूँ, धनी हूँ, मेरे समान कोई दूसरा नहीं है। अपने सत्स्वरूप को इस तरह अज्ञान से आच्छादित करना मद है। दूसरा रूप मात्सर्य है, दूसरों की उन्नति देख कर उनके प्रति मन में द्वेष-भाव रख कर उनकी उन्नति से जलते रहना और उन्हें गिराने की चेष्टा में लगे रहना मत्सर है। सत् को छिपाकर असत् अथवा मिथ्या भाव दिखाकर दूसरों से अपनी प्रशंसा करवाने का भाव दम्भ है। यह माया का तीसरा गुण है। चौथा रूप कृत्रिमता—बनावट है और पाँचवां गुण माया का है असद् व्यवहार और मिथ्या भाषण, वचन आदि के द्वारा दूसरे को विमुग्ध कर असत्य-से अपना काम बनाना; असत्य ही मिथ्या आचरण है ॥ ५६ ॥

आशा तृष्णा स्पृहा काङ्क्षामिथ्येति पञ्चगुणा प्रकृतिः ॥ ६० ॥

(अन्तःकरण के स्वभाव को प्रकृति कहा जाता है।) प्रकृति के पाँच गुण हैं। पहला गुण आशा है। आगे प्राप्त होने वाली वस्तु के विषय में प्राप्ति की भावना आशा है। दूसरा गुण तृष्णा है। अपने पास भोग के समस्त साधन रहते हुए भी अधिक-से-अधिक साधनपदार्थ की प्राप्ति की कामना में प्रवृत्त रहना तृष्णा है। यह कभी जीर्ण नहीं होती। 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः' वचन पर भर्तृहरि ने वैराग्यशतक में पक्की छाप (मुहर) लगा दी है। तीसरा गुण स्पृहा है, अमुक वस्तु की प्राप्ति हो जाय, इस तरह की मनोवृत्ति स्पृहा है। चौथा गुण काङ्क्षा है, यह वस्तु सदा बनी रहे, कोई छीन न ले, ऐसी वृत्ति काङ्क्षा है। पाँचवां गुण मिथ्या है, न मिलने वाली वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करना मिथ्या है ॥ ६० ॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, मातृकेति पञ्चगुणा वाक् इति व्यक्तिपञ्चकः पञ्चविंशति गुणा ॥ ६१ ॥

अन्तः करण के व्यापारसञ्चालन में वाक्—वाणी का बड़ा महत्व है। वाक् के पाँच रूप हैं। पहला रूप परा है। यह वाणी मूलाधार-चक्र में रहती है और निर्विकल्प समाधि के द्वारा जानी जाती है। इस वाणी में मन की गति नहीं है। वाक् का दूसरा रूप पश्यन्ती है। जब परावाक्—परावाणी नाभि-देश में

आकर स्थूल रूप धारण करती है, तब यह पश्यन्ती वाणी हो जाती है। इसके साथ मनका सम्बन्ध भी रहता है। योगी सविकल्प समाधि में इसे जानते हैं। वाक् का तीसरा रूप मध्यमा है। पश्यन्ती वाणी ऊपर गति करती हुई जब हृदय में प्रवेश करती है और अकारादि वर्ण-समुदाय पदरूप धारण करती है, तब इसी का नाम मध्यमा हो जाता है। यही वाणी जब मस्तक से लौट कर कण्ठ और तालु आदि स्थानों में टकराती है, तब उससे प्रकट होने वाले शब्द की वाणी वैखरी कहलाती है। यह वाक् का चौथा रूप है। वाक् का पाँचवां रूप मातृका है। अकारादि वर्णों में शिवरूप मकारके अनुस्वार होने से 'अं आं इं ईं' इत्यादि बीज-मन्त्ररूप वर्णमाला ही मातृका वाक् है। इस तरह व्यक्तिपञ्चक के पचीस गुणों—प्रकार आदि का वर्णन किया गया ॥ ६१ ॥

प्रत्यक्षकरणपंचक

कर्म कामश्चन्द्रः सूर्योऽग्निरिति प्रत्यक्षकरणपञ्च-कम् ॥६२ ॥

कर्म, काम, चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि सुख-दुःख भोगने वाले शरीर की प्राप्ति के पाँच प्रधान कारण हैं। शुभ-अशुभ कर्म की अनुकूल वासना के द्वारा शरीर प्राप्त होता है। विन्दुरूप शरीर का निमित्तकारण, कर्म और वासना है। यह संसार में अग्नि और चन्द्रमा के मेल से ही स्थित रहता है। सोमरस भोग्य है और अग्नि शोषक और भोक्ता है। एक के न रहने पर केवल मात्र दूसरे की प्रबलता या अधिकता से संसार और शरीर की स्थिति नहीं रह सकती, इसलिये दोनों का सामरस्य ही शरीर-प्राप्ति और उसकी स्थिति की दृष्टि से आवश्यक है। सोम से कुछ अग्नि-अंश अधिक रहने से अग्नि की विशिष्टता स्वीकृत है। यद्यपि सूर्य और अग्नि अन्यत्र एक ही तत्व के रूप में वर्णित हैं, पर सूर्य बारह कलात्मक, अग्नि दस कलात्मक है और सोम अथवा चन्द्रमा को सोलह कलात्मक परिलक्षित किया गया है। यह शरीर माता के रज और पिता के वीर्य से उत्पन्न होता है। रज सोमात्मक है, चन्द्रमारूप है और वीर्य सूर्य और अग्नि-तत्व रूप है। इस शरीर का उपादान कारण सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा है तथा कर्म और काम निमित्त कारण हैं। कला का अर्थ है चित् से मिली हुई सत्त्वरूप शक्ति। यही प्रत्यक्षकरणपंचक है ॥ ६२ ॥

शुभमशुभं यशोऽपिकीर्तिरदृष्टफलसाधनमिति पञ्चगुणं कर्म ।। ६३ ।।

शरीर की उत्पत्ति के निमित्तकारणरूप कर्म पाँच प्रकार के होते हैं। पहला शुभ कर्म है । यज्ञादि कर्म तथा स्वर्गादि प्राप्त कराने वाले सत्कर्म ही शुभ कर्म हैं। अशुभ कर्म वे हैं, जो निन्दित और असत्य तथा पापप्रेरित हैं। इनसे नरक आदि की प्राप्ति होती है। पुण्यादि कर्म से यश बढ़ता है और अपकर्म अपकीर्ति प्रदान करने वाले कर्म हैं। जिन कर्मों के फल चर्मचक्षु--इन्द्रियजन्य ज्ञान के अप्रत्यक्ष हैं, वे अदृष्टफलसाधन कहे जाते हैं ।। ६३ ।।

रतिः, प्रीतिः, क्रीड़ा, कामनाऽऽतुरतेति पञ्चगुणः कामः ।। ६४ ।।

विषय-भोग-सेवन-जन्य कर्म ही काम कहा जाता है। काम पाँच प्रकार का होता है। काम का पहला रूप रति है, स्त्री के प्रति रमणीयता की वृत्ति ही रति है। सुख-साधनों में अनुरक्ति ही प्रीति है। इन्द्रियों और मन को आनन्दित करने वाली रमणीय वस्तुओं को साधन बनाकर सुख-सम्पादन की क्रिया ही क्रीड़ा है, इस सम्बन्ध में नौका-विहार, कन्दुक उछालना आदि खेलों को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। काम-सुख की प्राप्ति में निरन्तर स्पृहा रखना ही कामना है तथा भोग-सुख अथवा रमणीयता का आस्वादन शीघ्रातिशीघ्र हो, इस तरह की मनोवृत्ति ही आतुरता है ।। ६४ ।।

उल्लोला, कल्लोलिनी,, उच्चलन्ती, उन्मादिनी, तरङ्गिणी शोषिणी, लम्पटा, प्रवृत्तिः, लहरी, लोला, लेलिहाना, प्रसरन्ती, प्रवाहा. सौम्या, प्रसन्नता, प्लवन्ती एवं चन्द्रस्य षोडशकला सप्तदशीकला निवृत्ति, साऽमृतकला ।। ६५ ।।

चन्द्रमा की सोलह कलायें हैं। भोगप्रवृत्ति को बढ़ानेवाली, द्रवित करने वाली कला उल्लोला है। बड़े आकार की तरंगमयी कला कल्लोलिनी है, ऊपर को चलनेवाली, प्रवृत्त होनेवाली उच्चलन्ती है। विषयसुख के प्रति मन को उन्मादित करने वाली कला उन्मादिनी है, तरंगायित होने वाली कला तरंगिणी है, जल और रस को सुखाने वाली कला शोषिणी है, लम्पटा चारों ओर फैलती

अथवा प्रसरित होती है, हर्षोत्पादिका कला का नाम प्रवृत्ति है, टेढ़ी-टेढ़ी गति वाली कला लहरी है। चञ्चल होने वाली कला का नाम लोला है, रसादि को चाटनेवाली कला लेलिहाना है। फैलनेवाली कला का नाम प्रसरन्ती है, चन्द्रकान्त आदि मणियों को द्रवित करने वाली कला का नाम प्रवाहा है, समस्त पदार्थों, औषधियों, लता-वृक्षादि को सोमरस से सिक्त करने वाली कला का नाम सौम्या है, सभी पदार्थों में निर्मलता स्थापित करने वाली कला का नाम प्रसन्नता है, उछल कर प्रवाहित होनेवाली कला का नाम प्लवन्ती है। चन्द्रमा में स्थायी रहने वाली, प्रलयकाल में भी अक्षुण्ण रहने वाली सोमरसमयी कला (निजकला) का नाम निवृत्ता है, यही अमृत कला है, जो सत्रहवीं कला कहलाती है ॥ ६५ ॥

विशेष—चन्द्रमा की इन समस्त कलाओं का सेवन लोकोत्तरानन्द की प्राप्ति में भी सार्थक है, केवल विषयेन्द्रिय-भोगजन्य तृप्ति में ही इनकी उपादेयता सीमित नहीं है, ये परमात्मप्रेम अथवा आत्मरस की तृप्तिस्वरूपिणी हैं।

तापिनी, ग्रासिका, उग्रा, आकुञ्चनी, शोषिणी, प्रबोधिनी, स्मरा, आकर्षिणी, तुष्टिवर्धनी, ऊर्मिरेखा, किरणवती, प्रभावतीति द्वादशकला सूर्यस्य त्रयोदशी स्वप्रकाशता निजकला ॥ ६६ ॥

सूर्य की बारह कलायें हैं। तापिनी ताप पैदा करती है, ग्रासिका तम—अन्धकार का नाश करती है, उग्रा कला प्रखर होती है, आकुञ्चनी समेटने वाली, संकुचित करनेवाली कला है, कुमुदिनी आदि को संकुचित और आकुंचित करने वाली कलायें उग्रा और आकुंचिनी हैं। शोषिणी कला जल आदि को सुखाती है। प्रबोधिनी कला कमल आदि को खिलाती (विकसित करती) है। स्मरा कला स्मृति उत्पन्न करती है। आकर्षिणी कला भूमि आदि के जल को अपनी ओर खींचती है। प्राणिमात्र को संतुष्टि प्रदान करनेवाली कला तुष्टिवर्धिनी है। ऊर्मी रेखा कला प्राणियों की आयु का माप करती है। किरणों का विस्तार करनेवाली कला किरणवती है और प्रकाश करनेवाली कला का नाम प्रभावती है। सूर्य की तेरहवीं कला—निजाकला स्वप्रकाशता हैं ॥ ६६ ॥

दीपका, राजिका, ज्वालिनी, विस्फुलिङ्गिनी, प्रचण्डा, पाचिका, रौद्री, दाहिका, रागिणी, शिखावती इत्यग्नेर्दशकला

एकादशो कला ज्योतिरिति प्रत्यक्षकरणगुणकला-समूहः ॥ ६७ ॥

अग्नि की दस कलायें हैं। दीपका कला दीप्त (प्रकाशित) करनेवाली कला है। राजिका कला शोभामयी करती है, ज्वाला कला ही ज्वालिनी है, विस्फुलिंग—चिनगारी प्रकट करनेवाली कला विस्फुलिंगिनी है। प्रचण्डकिरणों से युक्त कला ही प्रचण्डा है और जठरादि में भोज्य पदार्थों को पचानेवाली, वृक्षादि में फलों को रसमय करनेवाली कला ही पाचिका है। रौद्र स्वभाव की प्रतिपादिका कला रौद्री है, जलाने वाली कला का नाम दाहिका है, रागिणी अग्नि की लाल ज्योति की प्रकाशिका है, ऊपर की ओर लौ धारण करनेवाली कला शिखावती है। अग्नि की निजकला ज्योति है। (सूर्य, चन्द्र और अग्नि—शिव के त्रिनेत्र के वाचक हैं।) इस तरह प्रत्यक्षकरणपंचक के गुण-समूह और कलाओं का वर्णन किया गया है ॥ ६७ ॥

दस प्रधान नाड़ी और उनके स्थान

अथ नाड़ीनां दश द्वाराणि। इडापिङ्गला नासाद्वारयोर्वहतः सुषुम्णा नाडी तु ब्रह्मदण्डमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वहति सरस्वती मुखद्वारे वहति पूषाऽलम्बुषा चक्षुर्द्वारयोर्वहतो गान्धारी हस्तिजिह्विका च कर्णद्वारयोर्वहतः कुहूर्गुदाद्वारे वहति शंखिनी लिङ्गद्वारे वहति एवं दशद्वारेषु वहन्ति ॥ ६८ ॥

शरीर में (प्राणवाहिनी) दस (प्रमुख) नाड़ियों के दस द्वारों का वर्णन किया जाता है। नासिका के दोनों रन्ध्र (द्वार) से—बायें से इडा और दायें से पिंगला बहती है। सुषुम्णा नाड़ी ब्रह्मदण्डमार्ग (मेरुदण्ड) से ब्रह्मरन्ध्र तक बहती है और सरस्वती मुख-द्वार में बहती है। चक्षुद्वार—बायें नेत्र में गान्धारी और दक्षिण नेत्र में हस्तिजिह्विका नाड़ी बहती हैं, कानों के द्वार में—यथाक्रम पूषा और अलम्बुषा बहती हैं। शंखिनी नाड़ी लिंग द्वार में बहती है और गुदा द्वार में मूल नाड़ी बहती है। दसों द्वारों में दसों नाड़ियाँ बहती हैं ॥ ६८ ॥

विशेष—लिङ्ग से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के समान समस्त नाड़ियों का उत्पत्तिस्थान मूलकन्द है। इसी मूलकन्द से बहत्तर हजार नाड़ियों की उत्पत्ति है। इनमें सर्वश्रेष्ठ सुषुम्णा है, सुषुम्णा से प्राण निकलने पर ब्रह्मलोक तक गति होती है और जीवात्मा मोक्षस्वरूप—परमेश्वर अलख निरञ्जन शिव में प्रतिष्ठित हो जाता है। दूसरी नाड़ियों से प्राण निकलने पर स्वकर्म के अनुसार जीवात्मा को स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। योगशिखोपनिषद् में वर्णित नाड़ी-स्थिति-क्रम के अनुसार ही (सिद्धसिद्धान्तपद्धति १। ६८ में वर्णित) नाड़ी-स्थिति का अर्थ किया गया है।

गान्धारी हस्तिजिह्वा च तस्मान्नेत्रद्वयं गते ॥ २१ ॥
पूषा चालम्बुषा चैव श्रोत्रद्वयमुपागते ॥ २२ ॥
सरस्वती तु या नाड़ी साजिह्वान्तं प्रसर्पति ॥ २३ ॥
(योगशिखोपनिषद् ५। २१–२३)

दस वायु (प्राण) और उनके स्थान

अथ दशवायवः। हृदये प्राणवायुरुच्छ्वासनिःश्वासकारो हकारसकारात्मकश्चास्यैवावस्थाभेदे हठयोग इति संज्ञा, 'हकारः कीर्त्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते। सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते ॥' गुदेत्वपानवायू रेचककुम्भकपूरकश्च नाभौ समानवायुर्दीपकः पाचकश्च सर्वाङ्गे व्यानवायुश्च सनवमनजल्पकारश्च उदानः नागवायु सर्वाङ्ग व्यापकश्चालकश्च कूर्मवायुः कम्पकश्चक्षुरुन्मेषकारकश्च कृकल उद्गारकः क्षुत्कारकश्चदेवदत्तो मुखविजृम्भकः धनञ्जयानादघोषक इति दशवाय्ववलोकनेन पिण्डोत्पत्तिर्नरनारीरूपः। ६९ ॥

शरीर में दस (प्रधान) वायु हैं। हृदय में प्राणवायु उच्छवास और निःश्वास का संचालन करती है। यही प्राणवायु हकार और सकारात्मक है। यह हकार की ध्वनि से बाहर जाती है, सकार की ध्वनि से भीतर आती है, यह हठयोग की स्थिति है। हकार सूर्य और ठकार चन्द्र कहा जाता है, हकार और ठकार का योग ही हठ (प्राण)–साधना है। गुदादेश में अपान वायु रहती है, यह अपान

वायु रेचक, पूरक, कुम्भक की सामर्थ्य से युक्त होती है। (प्राणवायु को शरीर में रोकती है और प्राणायाम के अभ्यास में सिद्धि प्रदान करती है।) नाभि में समान वायु रहती है, यह जठरानल को दीप्त करती है और भोजन के रूप में ग्रहण किये गये पदार्थों को रसयुक्त करती तथा पचाती है। व्यानवायु शरीर में व्याप्त रहती है, यह समस्त नाड़ियों में विद्यमान मलादि दोषों का शोषण कर शरीर की कान्ति और तेज को बढाती है। कंठ में उदान वायु रहती है। इसका कार्य वमन, भाषण और शरीर से प्राण का उत्क्रमण है। नागवायु शरीर में व्याप्त रह कर उसके अंग-प्रत्यंग के संचालन में सहायता करती है। आँखों की पलकों को खोलना और बन्द करना (नेत्रोन्मीलन) कूर्मवायु का कार्य है। कृकल (कृकर) वायु का कार्य है डकार उत्पन्न करना तथा भूख बढ़ाना। देवदत्त वायु जँभाई लेने में सहायता रती है तथा धनञ्जय समस्त शरीर में व्याप्त रहकर अव्यक्त नाद उत्पन्न करती है। (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, पाँच मुख्य वायु हैं और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय उपवायु हैं।) इस तरह इन दस वायुओं के सम्बन्ध से नरनारीरूप पिण्ड (शरीर) की उत्पत्ति होती है ॥ ६९ ॥

विशेष --प्राण-वायु के हकार की ध्वनि से बाहर जाने पर और सकार की ध्वनि से भीतर आने पर हंस-हंस मन्त्र की उत्पत्ति शरीर में इक्कीस हजार छः सौ बार होती रहती है। इस हंस मन्त्र मे सोऽहं शब्द की उत्पत्ति होती है। हंस-मन्त्र का जप ही अजपा गायत्री है। यह योगियों को मोक्ष प्रदान करती है, इसके संकल्पमात्र से उसके समस्त पाप नष्ट होते हैं। कुण्डलिनी से उत्पन्न यह गायत्री, प्राण-विद्या महाविद्या है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।
कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
(गोरक्षशतक ४२, ४४, ४६)

हकार से सूर्यस्वर और ठकार से चन्द्रस्वर का सुषुम्ना नाड़ी में संयोग ही हठयोग में प्राणसिद्धि है।

जीवात्मा के स्थूल शरीर का उत्पत्ति-क्रम

अथ गर्भोली पिण्डोत्पत्तिर्भवति नरनारीसंयोगे ऋतुकाले रजोविन्दुसंयोगे जीवः ॥ ७० ॥

ऋतु-काल में नर और नारी के संभोग—संयोग (संगम) से निकले हुए रज-विन्दु का स्त्री की योनि में ऐक्य होने से जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है ॥ ७० ॥

विशेष—शिवरूप विन्दु है और बीज शक्ति रूप है । इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध ही नाद कहा गया है । व्यष्टि जीव सहित शुक्र भी विन्दु है, पुरुष के वीर्य में अन्य जीवात्मा निवास करता है, पर उसके शरीर में उसे सुख-दु:खादि प्रभावित नहीं करते, पर संभोग-काल में भोगार्थ कर्मवश वह अन्य जीवात्मा पुरुष के विन्दु से स्त्री के गर्भाशय में रज में सिंचित होकर स्थूल शरीर (रज-वीर्य से उत्पन्न शरीर) में जन्म लेने में समर्थ होता है । अतएव रज और बिन्दु का ऐक्य ही भोगकर्म के परिणामस्वरूप स्थूल शरीर की उत्पत्ति का कारण है ।

प्रथमदिने कलल भवति सप्तरात्रे बुद्बुदाकारं भवति । अर्धमासे गोलाकारं भवति । मासमात्रेण कठिनं मासद्वयेन शिरो भवति । तृतीयमासि हस्तपादादिकं भवति । चतुर्थे मासि चक्षुःकर्णादिनासिकामुखमेढ्गुदं भवति । पञ्चमे मासि पृष्ठोदरौ भवतः । षष्ठे मासि नखकेशादिकं भवति । सप्तमे मासे सर्वचेतनयुक्तो भवति । अष्टमे मासि सर्वलक्षणयुक्तो भवति । नवमे मासि सत्यज्ञानयुक्तो भवति । दशमे मासि योनिसंस्पर्शादज्ञानी बालको भवति ॥ ७१ ॥

(माता के गर्भ में प्रविष्ट जीवात्मा के स्थूल शरीर के निर्माण (सृष्टि) क्रम पर प्रकाश डालते हुए महायोगी गोरखनाथजी का कथन है—) नर-नारी के परस्पर सम्भोग के परिणामस्वरूप वीर्य और रज का मिश्रित द्रव पहले दिन कुछ गाढ़ा-सा रहता है । सात दिन की अवधि में यह बुलबुले का आकार धारण कर लेता है । पन्द्रह दिनों में यह गोल आकार का (पिण्ड) हो जाता है । एक

माह में यह स्थूल ठोस—कठिन-सा हो जाता है और दो माह में (उस गोलाकार पिण्ड में) सिर बनता है, तीन माह में उसमें हाथ-पैर आदि अंग बनते हैं, चार माह की अवधि में उसमें नेत्र, कान, नाक, मुख, लिंग, गुदा के आकार बन जाते हैं, पाँचवें मास में पीठ और पेट आकारित होते हैं, छठें माह में नख, बाल आदि उत्पन्न होते हैं; सातवें माह में उसमें चेतनता का समस्त अंगों में संचार होता है। आठवें मास में उसमें सभी लक्षण पूरे हो जाते हैं। नौवें मास में उसे (चेतन जीवात्मा को) अपने सत्स्वरूप का ज्ञान होता है। (उसे पिछले जन्म के कर्मों और तज्जन्य दुःखों का स्मरण हो आता है और वह परमात्मा से प्रार्थना करता है कि मुझे कृपा करके इस गर्भवास नरक-यातना से मुक्त कीजिये। दसवें मास में गर्भ से बाहर होते समय योनि-द्वार का स्पर्श होते ही वह अज्ञानी बालक-रूप में जन्म लेता है ।। ७१ ।।

शुक्राधिकेषु पुरुषो रक्ताधिका कन्यका समशुक्ररक्ताभ्यां नपुंसकः परस्परं चिन्ताव्याकुलत्वादन्धः कुब्जो वामनः पङ्गु रङ्गहीनश्च भवति । परस्परं रतिकालेऽङ्गनिःपीडनकर-गुणैः शुक्रो द्विस्त्रिवारं पतति, येन द्वितीयो बालको भवति ।। ७२ ।।

यदि पिता का वीर्य गर्भाशय में अधिक सिंचित होता है और माता का रक्त (रज) कम है तो संभोग के परिणामरूप पुरुष- (बालक) शरीर उत्पन्न होता है, माता का रज अधिक होने से कन्या-शरीर की उत्पत्ति होती है। पिता-माता के वीर्य और रज के समान (मिश्रित) द्रव से नपुंसक सन्तान की प्राप्ति होती है। यदि संभोग के समय स्त्री-पुरुष, दोनों चिन्ताग्रस्त हों तो जन्म लेने वाली सन्तान अन्धी, कुबड़ी, वामन (बौनी), लँगड़ी, अंगहीन होती है। रति-प्रसंग के समय आपस में अङ्गमर्दन से वीर्य-स्खलन में अवरोध होने पर गर्भाशय में रुक-रुक कर दुबारा वीर्यपात होते रहने पर एक से अधिक सन्तान उत्पन्न होती हैं ।। ७२ ।।

सार्धपलत्रयं शुक्रं विंशतिपलं रक्तं द्वादशपलं मेदः, दशपलं मज्जा, शतपलं मांसं, दशपल पित्तं, विंशतिपलं श्लेष्मा, तद्वद्वातः स्यात् षष्ट्यधिकशतत्रयमस्थीन्यस्थिमात्रं सन्धयः

सार्धत्रयकोटिरोमकूपाणि पितृमातृवीर्यं भवति वातपित्तश्लेष्म-धातुत्रयं दशधातुमयं शरीरमिति गर्भोत्थपिण्डोत्पत्तिः ॥ ७३ ॥

(जीवात्मा के स्थूल शरीर में कितनी मात्रा में कौन-कौन धातु हैं, इसका वर्णन किया गया है ।) इस शरीर में वीर्य साढे तीन पल (२२५ ग्राम), रक्त बीस पल (१२८० ग्राम), मेद बारह पल (७६८ ग्राम), मज्जा, दस पल (६४० ग्राम), मांस सौ पल (६४०० ग्राम), पित्त दस पल (६४० ग्राम), कफ २० पल (१२८० ग्राम), वात बीस पल (१२८० ग्राम), अस्थि तीन सौ साठ, सन्धि (जोड़) तीन सौ साठ, रोम और रोमकूप साढ़े तीन करोड़ हैं । यह शरीर पिता-माता के वीर्य और रज से उत्पन्न है । वात, पित्त, कफ आदि से युक्त दस धातुओं से निर्मित शरीर की गर्भ से उत्पत्ति होती है । यह गर्भ में उत्थित पिण्ड की उत्पत्ति है ॥ ७३ ॥

विशेष--१ पल ४ कर्ष के बराबर होता है, और १ कर्ष का तौल १६ मासा है, १ मासा १ ग्राम के तौल के बराबर होता है, इस तरह १ पल का तौल ६४ ग्राम है ।

इति शिवगोरक्षविरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ प्रथमोपदेशः ॥

दूसरा उपदेश

[पिण्डविचार]

नौ चक्र-वर्णन

पिण्डे नवचक्राणि । आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्दस्तत्र शक्तिं पावकाकारां ध्यायेत् तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति ।। १ ।।

शरीर में नौ चक्र हैं। (गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिङ्ग से दो अंगुल नीचे—चार अंगुल परिमाण का मूलाधार है।) मूलाधार में तीन वार गोल आकार में चारों ओर लिपटा त्रिकोण भगमण्डल के सदृश ब्रह्मचक्र है, वहीं (उसी के समीप) मूलकन्द है, वहाँ अग्नि के आकारवाली शक्ति का (योगी को) ध्यान करना चाहिये, वहीं कामरूप पीठ है, जिसके ध्यान मात्र से समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है ।। १ ।।

विशेष—हमारे पिण्ड में पीठ में संलग्न मेरुदण्ड है। मेरुदण्ड के भीतर ही दाहिनी ओर पिंगला तथा बायीं ओर इडा नाड़ी स्थित हैं, मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। यह तेज:स्वरूपिणी नाड़ी मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सहस्रार तक जाती है। इसी नाड़ी में स्थित अनेक आकार-विशेष ही षट्चक्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। गोरखनाथजी ने यद्यपि इसमें नवचक्र निरूपित किये हैं तथापि उन्होंने गोरक्षशतक आदि में षट्चक्र ही स्वीकार किये हैं।

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥
आधाराख्यं गुदास्थानं पङ्कजं च चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाक्षा सिद्धवन्दिता ॥
योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखस्थितम् ।
मस्तके मणिवद् बिम्बं यो जानाति स योगवित् ॥
तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात् प्रतिष्ठितम् ॥
यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातं न विद्यते ॥
(गोरक्षशतक १३, १७–२१)

मूलाधार-चक्र और स्वाधिष्ठान चक्र के मध्य में स्थित योनिस्थान को कामरूप कहा जाता है। मूलाधार नामक चार दल वाले कमल (चक्र) के, जो गुदास्थान में है, मध्य में त्रिकोणाकार योनि है, यही योगसिद्धों द्वारा वन्दित कामाक्षा पीठ है। उस कामाक्षा के मध्य में पश्चिमाभिमुख महालिंग हैं, उसके मस्तक में मणि के समान प्रदीप्त बिम्ब को जो अच्छी तरह जानता है, वही योग-वेत्ता है। लिङ्गस्थान के नीचे मूलाधार पद्म की कर्णिका में तप्त स्वर्ण वर्ण और विद्युल्लेखा के समान ज्योतित त्रिकोणाकार अग्निमय योनिस्थान है। समस्त दिशाओं में व्याप्त इस परम ज्योति का महायोगसमाधि में स्थित योगी दर्शन कर मुक्त हो जाता है।

मूलाधार कमल (चक्र) ही ब्रह्मचक्र है। यह मूलाधार-चक्र कुलचक्र भी कहलाता है। इस में कुण्डलिनी निवास करती है। कुण्डलिनी के स्थान में ही बन्धूक-पुष्प के समान लाल वर्ण के तेज से युक्त कामबीज है। यह तपाये हुए स्वर्ण के समान उज्ज्वल और प्रयुक्त अक्षरस्वरूप है। यह काम-बीज शरद के चन्द्रमा के समान दीप्त और करोड़ों सूर्य के समान तेजस्वी तथा करोड़ों चन्द्रमा के समान शीतल होता है।

तत्र बन्धूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम् ॥
(शिवसंहिता ५।९६)

यह आधार चक्र अपने चार दलों से युक्त है, उन दलों में वं, शं, षं, सं, ये चार अक्षर हैं। इस मूलाधार कमल के ध्यान से शरीर की कान्ति बढ़ जाती है जठराग्नि प्रदीप्त होती है, शरीर नीरोग रहता है। साधक तीनों काल का ज्ञाता हो जाता है। इस चक्र के ध्यान से योगी के सभी पाप क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। योगी मन, विन्दु और प्राण, तीनों को अपने वश में कर लेता है।

द्वितीयं स्वाधिष्ठानं चक्रं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखलिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्डीयानपीठं जगदाकर्षणं भवति ॥ २ ॥

दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है। उसके बीच में पीछे की ओर मुख वाला प्रवालांकुर मूँगे के अग्रभाग के सदृश (लाल रंग का) शिवलिंग है, इसका ध्यान करना चाहिये, यहीं उड्डियान पीठ भी है, इस लिंग का ध्यान करने से समस्त जगत् साधक की ओर सहज खिंच जाता है, शिवलिंग की उपासना से जगत् के प्राणो को साधक अपनी ओर आकृष्ट करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥ २ ॥

विशेष--'स्व' शब्द प्राण का वाचक है, इसलिये स्वाधिष्ठान प्राणचक्र है।

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः।
(गोरक्षशतक २२)

यह स्वाधिष्ठान-चक्र मेढ्र में स्थित है। यह छः दलों का कमल (चक्र) है। यह माणिक्य के समान लाल रंग का है। छः दलों पर क्रमशः वं, भं, मं, यं, रं, लं अक्षर अंकित होते हैं। इस चक्र में आत्मा का ध्यान कर योगी सुखी होता है।

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत् ॥
(गो० संहिता २। ६५)

स्वाधिष्ठान चक्र के ध्यानी को समस्त न सुने शास्त्रों का ज्ञांन हो जाता है। उसका शरीर रोगरहित हो जाता है। वह संसार में अभय रहता है।

सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥
(शिवसंहिता ५।१०१)

स्वाधिष्ठान चक्र का ध्यान करने वाले योगी की शारीरिक दिव्य कान्ति से लोग सम्मोहित हो उठते हैं। उसे अनेकानेक सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं, पर वह इन्हें साधना में बाधक मानकर आत्मलीन रहता है।

तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्तं सर्पवत् कुण्डलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनीशक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत् सा मध्यमा शक्तिः सर्वसिद्धिदा भवति ॥ ३ ॥

तीसरा नाभिचक्र (मणिपूरक) है। यह सर्प के समान कुण्डलाकार नाड़ी से पाँच वलयों में वेष्टित है, इस चक्र के मध्य में अरुणोदयकालीन करोड़ों सूर्य की प्रभा के समान विभासित कुण्डलिनी शक्ति का (योगी को) ध्यान करना चाहिये। यह मध्यमा शक्ति है, इसके ध्यान मात्र से समस्त सिद्धियों की प्राप्ति होती है। (यह मूलाधार में स्थित सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति की ही ज्योतिर्मयी विशिष्ट अवस्था है। इसके ध्यान से चित्त में सत्वगुण प्रवाहित होता है। मूलाधारस्थ कुण्डलिनी तीन वलयों में वेष्टित होती है।) मणिपूरक-चक्र में ज्योतित पाँच वलयों में वेष्टित कुण्डलिनी मध्यमा शक्ति है ॥ ३ ॥

विशेष—यह स्वर्ण-वर्ण का कमल है, इसके दस दलों पर क्रमशः ड से फ तक—डं, ढं, णं, तं, थ, दं, धं, नं, पं, फं, वर्णमाला अंकित है। इस चक्र का ध्यान करने से पाताल नाम की सिद्धि प्राप्त होती है, योगी इसका ध्यान कर सदा सुखी रहता है। जगत् में उसकी अभीष्ट कामनायें पूरी होती हैं, दुःख-रोग नष्ट होते हैं, मृत्यु का भय टल जाता है और परकाय-प्रवेश की शक्ति प्राप्त होती है, स्वर्णादि बनाने की सिद्धि प्राप्त होती है, औषधि—जड़ी-बूटी तथा पृथ्वी के भीतर छिपी रत्नादि निधि का ज्ञान होता है।

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्।
दशारण्डादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम्।
तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके।
तस्य पातालसिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा ॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम् ॥

कालस्य वञ्चनं चापि परदेहप्रवेशनम् ॥
जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत् ।
औषधादर्शनं चापि निधीनां दर्शनं भवेत् ॥
(शिवसंहिता १०४, १०६-१०८)

विवेक-मार्तण्ड में महायोगी गोरखनाथजी का कथन है कि मणिपूरक चक्र तरुण सूर्य के समान है । नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर कर इस चक्र में आत्मा का ध्यान करने से योगी जगत् को संक्षुब्ध कर देता है ।

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे तु मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ।।
(विवेकमार्तण्ड १७०)

मणिपूर चक्र का अर्थ है मणि का नगर, यह अग्नि का केन्द्र है, ताप का मध्य विन्दु है, मणि की भाँति चमकदार है । यह चेतनता की शक्ति से प्रदीप्त है । इस पद्म के भीतर उलटा त्रिभुज है, जिसका रंग लाल है । इसका वाहन भेंड़ा है । यह चक्र आत्मिक तथा भौतिक शरीर का प्राण-केन्द्र है, यहाँ प्राण-अपान का संगम होता है, जिसके परिणामस्वरूप ताप की उत्पत्ति होती है । यह ताप जीवन की रक्षा करता है ।

श्रीगोरखनाथ ने इस चक्र को नाभिचक्र कहा है । यह सुषुम्ना नाड़ी के अन्तर्गत एक केन्द्र के रूप में नाभिक्षेत्र में स्थित अनुभव किया जाता है । एक ऊर्ध्वगामिनी शक्ति योगी की चेतना को आधार चक्र और स्वाधिष्ठान चक्र से ऊपर उठा कर इसमें प्रतिष्ठित करती है । मूलाधार और स्वाधिष्ठान की अपेक्षा शिव-शक्ति के मिलन की आनन्दानुभूति का यह विशिष्ट केन्द्र है । महायोगी गोरखनाथ ने इस चक्र में प्रकट कुण्डलिनी को मध्यमा शक्ति कहा है, जिसका आशय है कि शिव-शक्ति के मूल स्वरूप की आत्माभिव्यक्ति की यह मध्यवर्ती अवस्था है । मणिपूर चक्र में मनरूपी भ्रमर रहता है । यह समय-समय पर विभिन्न दलों—पंखुड़ियों पर विचरण करता है । इस चक्र में चौबीस सौ श्वास लेने के समय (२ घटे ४० मिनट) तक ध्यान करना चाहिये, इस ध्यान से शान्ति, आनन्द, धृति, समता, निर्मोहता, वैराग्य, एकान्तप्रियता आदि की प्राप्ति होती है ।

चतुर्थं हृदयाधारमष्टदलकमलमधोमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां लिङ्गाकारं ज्योतिरूपां ध्यायेत्। सैव हंसकला सर्वेन्द्रियाणि वश्यानि भवन्ति ॥ ४ ।

हृदय में (सुषुम्ना नाड़ी में) स्थित चौथा अनाहत चक्र है। यह आठ दल (पंखुड़ियों) वाला कमल है, जो अधोमुख (नीचे की ओर मुख वाला) है। उसके मध्य में कर्णिका में स्थित शिव-लिंग के आकार वाली ज्योति का ध्यान करना चाहिये। यही हंसकला नामवाली श्रीशक्ति है। इसकी उपासना से (साधक की) सभी इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं ॥ ४ ॥

विशेष—यद्यपि इस सिद्धसिद्धान्तपद्धति में गोरखनाथजी ने अनाहत चक्र को अष्टदल कमल कहा है तथापि अपनी अन्यान्य रचनाओं में उन्होंने अनाहत चक्र को बारह पंखुड़ियों (दल) का कमल स्वीकार किया है और उनकी इस स्वीकृति की पुष्टि शिवसंहिता आदि में भी उपलब्ध होती है। बारह दलवाला कमल ही अनाहत महाचक्र है, यह पाप-पुण्य से रहित है, जीवात्मा तब तक संसार-बन्धन में भ्रमित रहता है, जब तक वह इस चक्र में ध्यानस्थ होकर परमतत्व परमात्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त करता है, परमात्म साक्षात्कार नहीं कर लेता है।

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥
(गोरक्षशतक २४)

गोरखनाथजी का कथन है कि इस अनाहत-चक्र का ध्यान करने वाला साधक अमृतत्व में स्थित हो जाता है, अमर हो जाता है।

अनाहते महाचक्रे द्वादशारे च पङ्कजे।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ध्यातामरो भवेत् ॥
(विवेकमार्तण्ड १७१)

गोरक्षसंहिता में तो स्पष्ट कथन है कि अनाहत चक्र के ध्यान से साधक ब्रह्ममय हो जाता है। यह चक्र प्रचण्ड सूर्य के समान प्रकाशित कहा गया है।

नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥
(गोरक्षसंहिता २६७)

हृदय-चक्र—अनाहत कमल के ध्यान से मन जड़ता का परित्याग कर ऊर्ध्वगामी होकर प्रबोध पाता है, जाग जाता है । महायोगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथजी ने गोरखनाथजी को उपदेश दिया है ।

हिरदा चक्र में मन प्रमोध ॥
(गोरख वा० मछींद्र-गोरखबोध ५४)

अनाहतचक्र आघातरहित होता है । सृष्टि की समस्त ध्वनियों की उत्पत्ति परस्पर दो वस्तुओं के आघात से होती है, भौतिक जगत् के परे दिव्य ध्वनि ही समस्त ध्वनियों का स्रोत है । यह अनहद (अनाहत) नाद है; ये ध्वनियाँ हृदय केन्द्र से उत्पन्न होती हैं । यह चक्र नीले रंग का कमल कहा गया है । इसके मध्य में षट् कोण की आकृति है । इसका बीज मन्त्र यं है । इसका वाहन द्रुतगामी काला हिरण है । यह वायुतत्व का प्रतीक है । इसके देवता पिनाक धारण करने वाले भगवान शिव हैं । इसकी अधिष्ठात्री देवी काकिनी है । अनेक सिद्धों और योगियों ने इस चक्र का रंग श्वेत भी बताया है । इस चक्र में ४८०० श्वास आने के समय (५ घंटे २० मिनट) तक ध्यान करना चाहिये । ध्यान से निर्लोभता, सत्यता, प्रेम, सावधानता, समदर्शिता, अहिंसकता, वात्सल्य, विवेकशीलता, जिज्ञासुता, दया, क्षमा और करुणा की शक्ति प्राप्त होती है । शिवसंहिता में इस चक्र को लाल रंग का कहा गया है । यह चक्र आनन्द का स्थान कहा गया है । इस अनाहत (चक्र) कमल में व्याप्त परम तेज को वाणलिंग कहा गया है । इस वर्णलिंग के स्मरण मात्र से साधक को दृष्ट-अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है । वह दूरस्थ सूक्ष्म पदार्थों को देखने की शक्ति पाता है । वह आकाश में उड़ने में समर्थ हो जाता है । खेचरी-मुद्रा सिद्ध हो जाती है । आकाश में स्थित जीव साधक के वश में हो जाते हैं ।

हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पङ्कजं भवेत् ।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ॥
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ।
पद्मस्थं तत्पर तेजो वाणलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।

यस्यस्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत् ॥
सिद्धः पिनाकीयत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ।
(शिवसंहिता ५ । १०६-१११)

महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि इस ज्योतिपूर्ण कमल के मध्य में शक्ति स्वयं को असाधारण रूप से भव्य, सुन्दर और स्थिर लिंगाकार प्रकाश के रूप में प्रकट करती है। शिवरूपिणी—शिवालिगन के आनन्द में मग्न कुण्डलिनी के इस रूप को हंसकला कहा जाता है, इस हंसकला को श्रीशक्ति भी कहा जाता है। योगी इसका ध्यान कर इन्द्रियजयी और शान्त हो जाता है। सिद्धियों की प्राप्ति के प्रलोभन नष्ट हो जाते हैं और योगी अपनी जैविक अथवा मानसिक शक्ति को इसमें केन्द्रित कर लेता है।

पञ्चमं कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलं तत्र वाम इडा चन्द्रनाड़ी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाड़ी तन्मध्ये सुषुम्णां ध्यायेत् सैवानाहत-कलाऽनाहतसिद्धिर्भवति ॥ ५ ॥

पाँचवां चार अंगुल विस्तारवाला कण्ठ (विशुद्ध) चक्र है। वहाँ बायीं ओर इडा–चन्द्रनाड़ी है और दाहिनी ओर पिंगला–सूर्यनाड़ी है। (ये दोनों नाडियाँ मूलकन्द से प्रकट होकर यहाँ आती हैं - निकलती हैं।) इन दोनों नाड़ियों के मध्य में (श्वेत वर्ण की) सुषुम्ना नाड़ी—ब्रह्म नाड़ी का ध्यान करना चाहिये। यह ब्रह्मनाड़ी अनाहत कला कहलाती है, इसकी उपासना (ध्यान) से अनाहत सिद्धि—मानसिक संकल्पों की सिद्धि होती है, संकल्पशक्ति सफल होती है ॥ ५ ॥

विशेष—कण्ठस्थान में दीपक की ज्योति के समान प्रभावाले विशुद्ध चक्र में नासा के अग्र भाग पर दृष्टि स्थिर कर आत्मा का ध्यान करने से साधक के समस्त (आधिभौतिक, आधिदैहिक और आधिदैविक) ताप—दुःख नष्ट हो जाते हैं।

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा दुःखं विमुञ्चति ॥
(विवेकमार्तण्ड १७२)

महायोगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथजी ने कण्ठचक्र को इष्ट के ध्यान का स्थान कहा है।

'कांठै चक्रै धरिये ध्यान।
(मछीन्द्रगोरषबोध-५४)

यह कण्ठचक्र सुनहले रंग का है। यह बड़ा तेजस्वी और सोलहस्वरों (अक्षरों) से समलंकृत है। इस कमल में सोलह दल हैं और उन पर यथाक्रम— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः —स्वर अंकित हैं। इस चक्र की अधिष्ठात्री शाकिनी है और इष्ट देवता अर्धनारीश्वर शिव हैं।

कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पञ्चमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम्।
(शिवसंहिता ५। ११६)

जो इस कंठचक्र का ध्यान करता है, वह योगीश्वर हो जाता है, चारों वेद का ज्ञानी हो जाता है, इस विशुद्ध चक्र में मन और प्राण का लय होने पर योगी यदि क्रोध करता है तो तीनों लोक भय से काँप उठते हैं। इसका ध्यान कर योगी लम्बी अवधि के लिये वाह्य ज्ञान से शून्य होकर समाधिस्थ हो जाता है। इस चक्र में ६६०० श्वास आने के समय (१० घंटे ४० मिनट) तक ध्यान करने से योगसाधन की शक्तियों की प्राप्ति होती है। इस कण्ठचक्र को विशुद्ध चक्र कहने का कारण यह है कि यह चक्र शुद्धिकरण का केन्द्र है। ऐसा भी कहा जाता है कि यह यमुना-जल के समान नीले रंग का कमल है। इस कमल के मध्य में श्वेत वृत्त है। इसका बीज मंत्र हं है। इसका वाहन सफेद रंग का हाथी है, अर्धनारीश्वर इस चक्र के इष्ट देव हैं। इस केन्द्र से योगी दिव्य रस—अमृत का पान करता है। इस अमृत की उत्पत्ति ललना चक्र से होती है, यह ग्रीवा के पीछे सन्निकट ही स्थित है। इस विशुद्ध चक्र में सुषुम्ना नाड़ी भव्य रूप में ज्योतित है। इस चक्र में सुषुम्ना के इस तेजोमय रूप को कुण्डलिनी शक्ति की अनाहत कला माना गया है। यह शिव के प्रगाढ़ालिंगन में आनन्दित रहती है। योगी की मानसिक-जैविक शक्ति अनाहत चक्र से होती हुई पूर्ण शुद्ध तथा केन्द्रित होकर विशुद्ध चक्र की ओर उठती है, शिव-शक्ति-मिलन का गहनतम आनन्द भोगने के लिये स्वयं को इस अनाहत कला से एकाकार कर लेती है। योगी को अनाहत सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उसे संसार की कोई शक्ति अपने वश में नहीं कर सकती। अनाहत सिद्धि का अर्थ यह भी हो सकता है कि वह सर्वव्यापक अनाहत नाद का अनुभव प्राप्त कर लेता है, जो

शिवशक्ति का नादरूप अथवा ध्वनिरूप है। इस स्तर पर योगी नादों की अनेकता को पार कर शाश्वत शिव-शक्ति के तादात्म्य का अनुभव करता है।

षष्ठं तालुचक्रं तत्रामृतधाराप्रवाहः घण्टिकालिङ्गमूल-रन्ध्रराजदन्तं शंखिनोविवर दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत्, चित्तलयो भवति ॥ ६ ॥

छठाँ तालुचक्र है, वहाँ (सहस्रदलस्थित चन्द्रमण्डल से) अमृत प्रवाहित होता रहता है। (उस अमृत की बूंदें तालु की विशेष नाड़ियों में झरती रहती हैं।) मुख खोलने पर जो मांस खण्ड दीखता है, वही घण्टिका है, जो लिंग के समान है, उसके मूल से लेकर तालुपर्यन्त राजदन्त नाम का बिल है, यही शंखिनी विवर कहा जाता है। (यहाँ शंखिनी नाड़ी का सम्बन्ध है।) यह दसवें द्वार का मार्ग है, यहाँ शून्य (निर्गुण-निराकार अलख-निरञ्जन परमेश्वर) का ध्यान करना चाहिये। यहाँ शून्य का ध्यान करने से चित्त लय को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

विशेष—महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि तालुचक्र तालुमूल में स्थित है। इस चक्र में सहस्रार से सतत अमृत की धारा प्रवाहित होती रहती है। योगी अपनी मानसिक जैविक शक्ति को इस चक्र में समुचित प्रणाली से एकाग्र कर इस अमृत का पान कर क्षुधा-पिपासा से मुक्त होकर शरीर दिव्य कर लेता है, भौतिक अमृतत्व प्राप्त कर लेता है, इस चक्र में शून्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये, जिससे चित्तलय की स्थिति की प्राप्ति हो सके। पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये और चेतना को परमात्ममय कर देने के लिये चित्तलय एक महान् सोपान है। तालुमूल में एक घंटिका लिंग है, जिसके मूल में एक लघु छिद्र है, एक पूर्ण रिक्त स्थान शंखिनी विवर है. यह दसवाँ द्वार है, यहीं शून्य पर धारणा करने से समाधि के फलस्वरूप चित्त विलीन हो जाता है, इसमें ध्यान करने से व्यावहारिक चेतना समाप्त हो जाती है और पारमार्थिक ज्योति आलोकित हो उठती है।

इसी चक्र से योगी को सहस्रार से द्रवित अमृतपान सुलभ होता है। गोरखनाथ ने इस चक्र के ऊपर भ्रूचक्र (आज्ञा चक्र) और निर्वाण-चक्र तथा

आकाश चक्र में शिव सायुज्य अथवा अलख निरंजन परम ज्योति स्वरूप स्वसंवेद्य परमेश्वर के साक्षात्कार का वर्णन किया है ।

स्रवत् पीयूषसम्पूर्णे लम्बिकाचन्द्रमण्डले ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा मृत्युं विमुञ्चति ।।
(विवेकमार्तण्ड १७३)

लम्बिका-स्थान में स्थित चन्द्रमण्डल से स्रवित पीयूष में आत्मा का ध्यान कर योगी नासा के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करता है और मृत्यु के भय से रहित हो जाता है ।

सप्तमं भ्रूचक्र मध्यममंगुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेद् वाचां सिद्धिर्भवति ।। ७ ।।

सातवाँ भ्रूचक्र है । (यही आज्ञाचक्र कहा जाता है । यह दोनों भौंहों के मध्य में स्थित है, इसलिये मध्यम चक्र कहा गया है । (यह दो दलों वाला कमल है ।) इस भ्रूचक्र के मध्य में दीपशिखा के आकार वाला एक अंगुल का ज्ञाननेत्र (तृतीय नेत्र) है । इस ज्ञाननेत्र का ध्यान करने से योगी वाक्‌सिद्ध हो जाता है, वह जो कुछ कहता है, वह व्यर्थ नहीं होता ।। ७ ।।

गोरक्षसंहिता में महायोगी गोरखनाथजी ने आज्ञाचक्र में माणिक्य की शिखा के समान आत्मा में नासाग्रदृष्टि से ध्यान करने का फल आनन्दमय होना बताया है । इस आज्ञाचक्र में नीलवर्ण के शिव का ध्यान कर योगी प्राण को वश में कर जीव-शिव का ऐक्य सम्पादित करता है । नासिका के अग्र भाग में निर्गुण, शान्त, विश्वतोमुख, आकाश के समान व्याप्त शिव का ध्यान कर ब्रह्ममय हो जाता है । आज्ञाचक्र की स्थिति भौहों के मध्य में है । भौंहों के मध्य के स्थान को आकाश कहा जाता है, इस चक्र के देवता शिव हैं; उनका ध्यान कर योगी मुक्ति प्राप्त करता है ।

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ।
ध्यायन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमाप्नुयात् ।।

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥
(गोरक्षसंहिता २।७०,७१, ७३)

आज्ञाचक्र के सम्बन्ध में शिवसंहिता में बड़े विस्तार से विचार किया गया है । आज्ञाचक्र कमल के दोनों दलों पर हं, क्षं बीजाक्षर अंकित हैं । ये दोनों दल श्वेत रंग के हैं । यहाँ के महाकाल सिद्ध हैं और हाकिनी देवी अधिष्ठात्री रूप में स्थित रहती हैं । इस आज्ञापद्म के मध्य में शरद् के चन्द्रमा की आभा के सदृश चन्द्रबीज ('ठ' बीज) स्थित रहता है, इसे जान लेने पर परमहंस पुरुष को किसी प्रकार का अवसाद नहीं रहता है ।

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥
शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृम्भितम् ।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ॥
(शिवसंहिता ५ । १२२-१२३)

इस आज्ञा-चक्र में तुरीय तृतीय लिंग के रूप में मुक्तिदायक शिव विराजमान हैं । इस लिंग का ध्यान करने से योगी शिवस्वरूप हो जाता है । शरीर की इडा-पिंगला नाड़ियाँ वरणा और असी कही जाती हैं, इन्हीं वरणा-असी (वाराणसी) के मध्य में विश्वनाथ अभिव्यक्त हैं । इस वाराणसी को परमतत्व माना गया है । मेरु दण्ड के सहारे सुषुम्ना नाडी ब्रह्मरन्ध्र तक गयी है । इडा नाड़ी सुषुम्ना के परावृत होती हुई आज्ञाचक्र के दक्षिण भाग से होकर बायें नासापुट को जाती है, इसलिये गंगा कही गयी है । इडा नाड़ी के समान पिंगला नाड़ी आज्ञा-चक्र के वाम भाग से चलकर दाहिने नासापुट को जाती है, इसलिये इसको असी कहा गया है । महेश्वर इस आज्ञाचक्र के देवता हैं, इस चक्र के ऊपर तीन पीठ हैं, जिन्हें नाद, बिन्दु और शक्ति कहा जाता है । इस आज्ञापद्म का ध्यान करने वाले साधक के पहले जन्म में किये गये कर्म के फल नष्ट हो जाते हैं । इस आज्ञाचक्र में जिस साधक का मन क्षणमात्र के लिये भी स्थिर हो जाता है, उसके सभी पाप उसी क्षण में नष्ट हो जाते हैं । वासना का महाबन्धन समाप्त हो जाता है। जो योगी मृत्यु के समय इस आज्ञाचक्र का ध्यान करता है, वह परमात्मस्वरूप हो जाता है । इस कमल का ध्यान करने वाला साधक राजयोग का अधिकारी होता है ।

राजयोगाधिकारोस्यादेतच्चिन्तनतो ध्रुवम् ।
यागो बन्धाद् विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभयास्वयम् ।।
(शिवसंहिता ५ । १४८)

इस आज्ञाचक्र को तीसरा नेत्र, त्रिकुटी, त्रिवेणी, शिवनेत्र, गुरुचक्र आदि भी कहा जाता है। इस चक्र का रंग हल्का भूरा भी कहा गया है। दलों पर हं, क्षं अक्षर प्राणशक्ति के ऋणात्मक तथा धनात्मक प्रवाह के प्रतिनिधि हैं। पद्म के मध्य में ॐ बीज मन्त्र है। सामान्यतः ध्यान तो भ्रूमध्य में किया जाता है, पर चक्र का स्थान मस्तिष्क में है। शरीर के वाम भाग से इड़ा, दक्षिण भाग से पिंगला तथा मेरुदण्ड के माध्यम से ऊर्ध्व भाग से सुषुम्ना आकर मिलती है, इसी से इसका नाम त्रिवेणी भी है। इस स्थान पर ३००० श्वास के आने के समय (३ घंटे २० मिनट) तक ध्यान केन्द्रित करने पर वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं। मन की चंचलता मिट जाती है। नेत्रों के प्रकाश में बाहर-भीतर के अंग प्रकाशित हो उठते हैं। अन्तः प्रदेश की रचना का ज्ञान सुलभ होता है। आत्मसाक्षात्कार होता है।

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः ।
तस्मिन्स्नानेस्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः ।।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासान्तु सङ्गमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम् ।।
(शिवसंहिता ५ १६३–१६४)

इस त्रिवेणी में ध्यान करनेवाला (स्नान करने वाला) साधक परमगति को प्राप्त करता है। महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि इस आज्ञाचक्र में सुषुम्ना अंगुष्ठमात्र दीपशिखाकार हो जाती है। योगसाधक का इस चक्र में ध्यान करने से सम्पूर्ण अस्तित्व सत्य की अभिव्यक्ति करता है और वह सहज गति से सत्य भाषण ही किया करता है, वाक्सिद्ध हो जाता है।

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं सूचिकाग्रभेद्यं धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवति । ८ ।।

आठवाँ निर्वाणचक्र है। (इसमें ध्यान करने से ब्रह्म अभिव्यक्त होता है, जिसका फल है मोक्ष) इसका नाम ब्रह्मरन्ध्र भी है। यह सूई के अग्रभाग के

सदृश धूम की शिखा के आकार वाला है, इसका योगी को ध्यान करना चाहिये। यहीं मुक्ति की प्राप्ति कराने वाला जालन्धर पीठ है। (धूम सदृश तेज का इस चक्र में ध्यान करने से समस्त प्रपञ्चजाल का नाश करने वाला–उन्मूलन करने वाला परमात्मा–जालन्धर अभिव्यक्त होता है। सहस्रार के मूल में सूई की नोंक के समान एक धूमशिखाकार छिद्र है, यही ब्रह्मरन्ध्र—निर्वाणचक्र है।) इस चक्र में जालन्धर पीठ मोक्षप्रद होता है ।। ८ ।।

विशेष ब्रह्मरन्ध्र चक्र–निर्वाण चक्र सहस्रार के मूल में स्थित है, इसका ध्यान कर साधक नासा के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर कर अपने आत्मस्वरूप – शिव स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जा जाता है।

ब्रह्मरन्ध्र महाचक्रे सहस्रारे च पङ्कजे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा सिद्धो भवत्स्वयम् ।।
(विवेकमार्तण्ड १७५)

सिद्ध होने का आशय है परमात्मस्वरूप की प्राप्ति। यदि योगी ब्रह्मरन्ध्र (निर्वाण चक्र) में मन लगाकर आधे क्षण तक भी स्थिर रहता है, तो वह समस्त पापों से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त हो जायेगा । इस ब्रह्मरन्ध्र में लीन मन वाला योगी अणिमादि सिद्धियों से प्राप्त सुख-सुविधा का उपभोग करता हुआ शिवस्वरूप हो जाता है। वह परमेश्वर शिव को प्रिय हो जाता है और अनेक मुमुक्षुओं को उपदेश देकर संसार-सागर से पार उतार देता है।

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ।।
अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते ।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ।।
एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यः
संसारेऽस्मिन् वल्लभो मे भवेत्सः ।
पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी
ज्ञानं दत्वा तारयत्यद्भुतं वै ।।
(शिवसंहिता ५ । १७३–७५)

निर्वाणचक्र व्यष्टि चेतना द्वारा अनन्त शाश्वत ब्रह्म की सिद्धि का श्रेष्ठतम केन्द्र है। व्यष्टि चेतना इस स्तर पर सच्चिदानन्दस्वरूप में तल्लीन हो जाती है।

इस चक्र में कुण्डलिनी महाशक्ति परमात्मा शिव से तादात्म्य प्राप्त कर ज्योतित रहती है। इसके ध्यान से प्रकाश-अन्धकार, असीम-ससीम, गति-विराम आदि द्वन्द्वात्मक प्रपञ्च समाप्त हो जाते हैं। यह चक्र प्रापंचिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के भव्य जाल के चरम नियन्ता (जालन्धर) परमात्मा, जिससे यह ब्रह्माण्डजाल उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा यह धारण किया जाता है तथा शासित और व्यवस्थित होता है, जिसकी यह लीला है, जो इन सबका अन्तर्यामी प्रकाशक है—की आत्माभिव्यक्ति का स्थान है। व्यक्ति तबतक जालबद्ध रहता है, जबतक वह स्वयं और जगत् में जालन्धर (परम जाल-नियन्ता) को पहचान नहीं लेता है। जब वह जालन्धर (परमात्मा) से पूर्ण तादात्म्य अनुभव करने लगता है, तब समस्त बन्धनों और दुःखों से मुक्त होकर इस संसार में स्वच्छन्दता—स्वाधीनता का अनुभव करता है, जीवन्मुक्त हो जाता है। इस चक्र में जालन्धर पीठ की यही मोक्षप्रदता है।

नवममाकाशचक्रं षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारां तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिर्भवति। इति नवचक्रस्य विचारः ॥ ९ ॥

नौवाँ आकाश चक्र है। (सहस्रार के ऊपरी भाग में) एक ऊर्ध्वमुख सोलहदलों का कमल है। उसकी कर्णिका में त्रिकूटाकार (त्रिकोण आकार वाली) ऊर्ध्वमुखी शक्ति है। वह सच्चिदानन्दस्वरूपा निराकार शक्ति है। यह परमशून्य है। इस शक्ति का ध्यान करना चाहिये। यहीं पूर्णगिरिपीठ है, यह समस्त पदार्थों से परिपूर्ण है, समस्त संकल्पों की सिद्धि होती है। इस पूर्णगिरिपीठ वाले आकाशचक्र का ध्यान करने से संसार-जन्य भय की निवृत्ति हो जाती है और समस्त प्राणी-पदार्थ योगसाधक के वशीभूत हो जाते हैं। यही नवचक्रों का विचार (निरूपण) - क्रम है ॥ ९ ॥

विशेष—यह आकाश चक्र सहस्रार के ऊपरी भाग में स्थित है और इसके मूल भाग में उपर्युक्त निर्वाण चक्र है, इसलिये सहस्रार के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है। सहस्रार योगसाधना की सिद्धि की दिशा में उच्चतम चेतना का केन्द्र है, सहस्रदल वाले ज्योतिर्मय कमल के रूप में इसका दर्शन होता है। इन दलों पर समस्त वर्ण अङ्कित हैं, इसके केन्द्र में उज्ज्वल शिवलिंग है,

यह पवित्रतम चैतन्य का प्रतीक है, यहाँ शिव-शक्ति का ऐक्य होता है। प्रबुद्ध कुण्डलिनी इस सहस्रार में परम शिव से अभिन्न हो जाती है। शिवसंहिता में भगवान् शिव का कथन है कि सहस्रार में योनिमण्डल है, इसी के नीचे चन्द्रमा का स्थिति है। योगी इस चन्द्रमण्डल का ध्यान कर संसार में पूज्य हो जाता है। वह देवता और सिद्धों के समान ऐश्वर्य शाली हो जाता है। यह सहस्रार पद्म दिव्य रूप वाला है, यह ब्रह्माण्डरूपी देह के बाहर विद्यमान रहता है और मोक्ष देता है।

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूप सहस्रारं सरोरुहम्।
(शिवसंहिता ५.१८६)

यद्यपि गोरखनाथजी ने आकाश चक्र को ही कैलास कहा है तथापि सहस्रार ही कैलासरूप में प्रसिद्ध है। इस सहस्रदल पद्म का ज्ञान प्राप्त होने पर चित्तवृत्ति लय को प्राप्त हो जाती है. इसके फलस्वरूप अखण्डज्ञानस्वरूप निरंजन का साक्षात्कार होता है।

यज्ज्ञात्वा प्राप्तविषय चित्तवृत्तिर्विलीयते।
तस्मिन् परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षक:।
चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद्ध्रुवम्।
तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जन:॥
(शिवसंहिता ५ १९४–९५)

यह सहस्रार पद्म शिखरलोक, अमरलोक, भँवरगुफा आदि नामों से भी प्रसिद्ध है। नाभिकमल से उठे श्वास का यह विश्राम-स्थान है। महाकुण्डलिनी आधार पद्म से जागरित होती हुई इसी सहस्रार में प्रवेश कर शिवरूपिणी हो जाती है। यह शरीररूपी वृक्ष का मूल है, यह अमृत का ऊर्ध्वमुख कूप है, इसे औंधा कूप भी कहा जाता है। इस स्थान पर वृत्ति–सुरति का स्थिर हो जाना ही निर्विकल्प या सहज समाधि है।

गगन मंडल में ऊँधा कूबा तहां अमृत का वासा।
(गोरखवानी सबदी २३)

आकाश चक्र ही महायोगी गोरखनाथ की योगदृष्टि में नौवाँ चक्र है। भगवान् शिव का कथन है कि सहस्रार ही कैलास है और परमेश्वर, क्षयवृद्धिविवर्जित अकुल, अविनाशी शिव का ही यहाँ निवास है।

कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।
अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ॥
(शिवसंहिता ५ । १८७)

यह आकाशचक्र सहस्रार के सुमेरु पर स्थित है। इस आकाशचक्र (कमल) को सोलह दलों से युक्त कहा गया है, इसका मुख ऊपर की ओर है। इस कमल के केन्द्र में त्रिकूटाकार सच्चिदानन्दमयी महाशक्ति परमात्मा शिव से परमोच्च आत्माभिव्यक्ति प्रकट करती है। इसे आत्मानुभव का चरम स्थान पूर्णगिरि पीठ भी कहा गया है। यहाँ प्रापंचिक चेतना पूर्णतया रूपान्तरित होकर स्वयं को सर्वसमाहारी, सर्वसमायोजक, सर्वातिक्रामक चरम चेतना के रूप में अनुभव करने लगती है। मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी शक्ति को अपने सर्वाधिक प्रियतम शिव से पुनर्मिलन की पवित्र यात्रा इस चक्र में पहुँच कर अपना ध्येय प्राप्त कर लेती है। योगी आत्मपूर्णता प्राप्त कर लेता है।

गोरक्षशतक में गोरखनाथजी ने षट् चक्र ही निरूपित किये हैं।

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षट्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥
(गोरक्षशतक १५, १६)

भ्रूमध्य में स्थित आज्ञा चक्र के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में सहस्रार कमल स्थित है।

मत्स्येन्द्र नाथ ने भी छः चक्र बताये हैं और कंठचक्र के ऊपर छठां चक्र ज्ञानचक्र कहा है। इस चक्र में योगी विश्राम करता है।

ग्यांनै चक्रै लीजै विश्राम ।
(मछीन्द्रगोरषबोध ५४)

'गोरखबानी' में अष्टचक्र ही महायोगी गोरखनाथ द्वारा वर्णित हैं। अष्टचक्र नामक लघु रचना में चक्रसाधना का स्वारस्य निरूपित है। यह पूरी रचना इस तरह है—

ॐ गोरष देव अष्ट चक्र बोलिये घट भीतर । ये कौंण-कौंण बोलिये । अवधू प्रथमें आधार चक्र बोलिये । गुदा अस्थांने, चत्र दल कंवल, षटसै साँस । तिस चक्र ऊपरि द्रिष्ट चक्र, लिंग अस्थांने, षट् दल कंवल षटसै साँस । तिस चक्र ऊपरि मणिपुर चक्र, नाभि अस्थांने, दस दल कंवल, षटसै साँस । तिस चक्र ऊपरि अनहद चक्र, हिरदा सथांने, द्वादश कंवल, षट सै साँस । तिस चक्र ऊपरि विसुध चक्र, कंठसथांने, षोडश कंवल, एक सहंसर साँस । अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यान । तिस चक्र ऊपरि अगनि चक्र, नेत्र सथांने षोडश दल कंवल एक सहंस्र साँस, अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यान । तिस चक्र ऊपरि गिनांन चक्र, ब्रह्मंड सथांने, एक सहंस्र दल कंवल एक सहंस्र साँस । अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यान । तिस चक्र ऊपरि सुछिम चक्र, विग्यांन सथांने एक वीस सहंस्र दल कंवल । ए अष्ट कमल का जांणौ भेव । आपै करता आपै देव । (गोरखवानी अष्टचक्र)

स्पष्ट है कि महायोगी गोरखनाथ ने चक्र-साधना का परमफल स्वरूपावस्थानपूर्वक परम शून्य में परमात्मा शिव का साक्षात्कार बताया है । चक्र साधना की अन्तर्ज्योति से सम्पूर्ण अखण्ड, अनन्त, निरञ्जन सच्चिदानन्द में आत्मा प्रतिष्ठित होकर परमात्मस्वरूप हो जाता है ।

सोलह आधार

अथ षोडशाधारः कथ्यते तत्र प्रथमं पदाङ्गुष्ठाधारं तत्राग्रतस्तेजोमयं ध्यायेत् । दृष्टिः स्थिरा भवति ।। १० ।।

अब यथाक्रम सोलह आधारों का निरूपण किया जाता है । पहला पादांगुष्ठाधार है । उसके अग्रभाग में तेजोमय स्वरूप का ध्यान करना चाहिये, इस ध्यान से दृष्टि स्थिर होती है ।। १० ।।

विशेष—हमारे शरीर के भीतर अनेक तेजोमय स्थान अथवा केन्द्र हैं, जिन का ध्यान करने से योगसाधक को अपने प्राण, मन और बिन्दु के लय में बड़ी सुविधा होती है । महायोगी गोरखनाथजी ने ऐसे प्रधान केन्द्रों को चक्र कहा है और उपर्युक्त तेजोमय स्थानों को आधार कहा है, जो सोलह हैं । आधार

का शाब्दिक अर्थ है धारण करने वाला । आधार के माध्यम से जैविक तथा मानसिक कार्यों के मुख्य स्थानों का संकेत मिलता है, जिन्हें स्वेच्छा से वश में कर योगी आन्तरिक साधना में आगे बढ़ता है । प्रत्येक पद के अंगूठे में जैविक कार्य का केन्द्र है । इस पर ध्यान केन्द्रित करने से नेत्र और पैर के अंगूठे तक प्रवाहित तेज पर दृष्टि एकाग्र होती है । पैर के अंगूठे के तन्तुओं में और नेत्र के स्नायुओं में तेजोमय सम्बन्ध है ।

द्वितीयं मूलाधारसूत्रं वामपार्ष्णिना निःपीडयितव्यम् । तत्राग्निदीपनं भवति ।। ११ ।।

दूसरा मूलाधार है । इसके सीवन को वायें पैर की एड़ी से दवा कर वैठना चाहिये । इससे शरीर में तेज की वृद्धि होती है । शरीर में स्थित अग्नि प्रदीप्त होती है ।। ११ ।।

विशेष—यह कुण्डलिनी शक्ति प्रथम आधार और सुषुम्ना नाड़ी का उद्‌गम स्थान है । इसी स्थान पर सबसे पहले मानसिक और जैविक शक्ति को एकाग्र कर सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ाने—ऊर्ध्वमुखी करने का अभ्यास किया जाता है । अपने वायें पैर की एड़ी से मूलाधार के सीवन को दवा कर वैठने से अग्निदीपन होता है और शक्ति नीचे की ओर प्रवाहित न होकर ऊर्ध्वमुखी हो उठती है । शक्ति का जागरण आरम्भ हो जाता है और वह आध्यात्मिक अथवा आत्ममुखी हो जाती है, उसमें परमेश्वर शिव से मिलने की अभिलाषा तीव्र हो उठती है ।

तृतीयं गुदाधारं विकाससंकोचनेन निराकुञ्चयेत् । अपानवायुः स्थिरो भवति ।। २२ ।।

तीसरा गुदाधार है । इस स्थान पर गुदा का संकोच-विकास—आकुञ्चन और संकोचन करना चाहिये । इस क्रिया से अपानवायु स्थिर हो जाती है ।। १२ ।।

विशेष—गुदाधार की स्थिति गुदास्थान में बतायी जाती है । इस आधार के द्वारा अपान वायु शरीर के मल और दोषपूर्ण गन्दगी को शरीर से बाहर निकाल कर उदर को निर्मल करती है और प्राणवायु से ऐक्य स्थापित कर जैविक और मानसिक शक्ति को विकसित करती है । इस कार्य की पूर्णता के लिये साधक को गुदा का आकुञ्चन और संकोच करना—उसे सिकोड़ना और फैलाना

आवश्यक होता है। इससे अनेक उदरसम्बन्धी रोग दूर होते हैं तथा सहज रूप से मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध के अभ्यास का फल प्राप्त होता है, कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वमुखी होती है और प्राणायाम की साधना संयत होती है।

चतुर्थं मेढ्राधारं लिङ्गसंकोचनेन ब्रह्मग्रन्थित्रयं भित्त्वा भ्रमरगुहायां विश्रम्य तत ऊर्ध्वमुखे विन्दुस्तम्भनं भवति। एषा वज्रोली प्रसिद्धा ॥ १३ ॥

चौथा मेढ् (लिंग)—आधार है। यहाँ लिंग का संकोचन कर (योनि मुद्रा की सहायता से) वीर्य को ऊर्ध्वगामी करते हुए योगी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—तीन ग्रन्थियों का भेदन कर (मेरुदण्ड के सामने ग्रीवा के ऊपरी भाग में विद्यमान) भ्रमर गुफा में वीर्य का स्तम्भन कर विश्राम करता है। (वीर्य अधः पतित नहीं होने पाता है।) यही वज्रोली क्रिया है। (इसके प्रभाव से योगी अखण्ड ब्रह्मचर्य में स्थित होकर प्राण, मन और वीर्य—बिन्दु का पारस्परिक लय कर परम पद में स्वस्थ हो जाता है।) यह वज्रोली क्रिया विशेष रूप से प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

विशेष—योनि-मुद्रा के अभ्यास से सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग कर ऊपर उठती है और वीर्य ऊर्ध्वगामी होता है। इस योनि मुद्रा का विवरण महर्षि घेरण्ड ने अपनी घेरण्डसंहिता में दिया है। सिद्धासन में स्थित होकर दोनों हाथ के अंगूठों से कानों को, दोनों तर्जनी से नेत्रों को, मध्यमा से मुख को तथा अनामिका अंगुली से नाक के छिद्र बन्द करना चाहिये। प्राण को काकीमुद्रा (कौए की चोंच के समान मुख को जिह्वा बाहर कर आकारित करना चाहिये और धीरे-धीरे वायु का पान करना चाहिये।) से खींचकर अपान वायु से मिलाना चाहिये। देहस्थ षट्चक्रों का ध्यान कर 'हूं' या 'हंस'—इन दोनों मन्त्रों से सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सहस्रार में स्थापित करना चाहिये। ऐसी भावना करनी चाहियेकि मैं शिव के साथ शक्तिमय होकर परम सुख का आस्वादन कर रहा हूँ। यही योनिमुद्रा है।

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नासोमुखम्।
अंगुष्ठतर्जनीमध्यानामाभिश्चैव साधयेत् ॥
काकोभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत् ततः।

षट्चक्राणि क्रमाद् ध्यात्वा हूं हंसमनुना सुधीः ।।
चैतन्यमानयेद् देवीं निद्रितां यां भुजङ्गिनीम् ।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे ।।
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परशिवेन सङ्गमम् ।
नानासुखं विहारं च चिन्तयेत् परमं सुखम् ।।
(घेरण्डसंहिता ३।३७-४०)

गुदा से उपस्थ—मेढ़्पर्यन्त योनिदेश कहा जाता है । इसी का संकोचन कर योनि-मुद्रा की क्रिया की जाती है । इस योनिमुद्रा तथा लिङ्ग के संकोच से साधक तीन ग्रन्थियों–ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि का भेदन कर सहस्रार में बिन्दु को ऊर्ध्वमुख कर शिव-शक्ति के तादात्म्य के आनन्द का उपभोग करता है। तीनों ग्रन्थियों का भेदन कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया का एक अंग है ।

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ।।
प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डलींयाति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ।।
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्नावदनान्तरे ।।
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।
सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेवसंस्फुरेत् ।।
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरंहृदि संस्थिता ।
ऊर्ध्वंगच्छति यच्चास्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम् ।।
(योगकुण्डल्युपनिषत् १ । ६३-६८)

अपानवायु का लिङ्गसंकोचन द्वारा सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करना ही ब्रह्मग्रन्थि का भेदन है, अपानका उठकर हृदयस्थ प्राण के आकर्षण से ऊर्ध्वमुख होना विष्णुग्रन्थि का भेदन है और इस प्राणमयी महाशक्ति कुण्डलिनी के रूप में आज्ञाचक्र का भेदन कर सहस्रार में पहुँचना ही रुद्रग्रन्थिका भेदन है । आज्ञाचक्र में ही रुद्रग्रन्थि की स्थिति बतायी गयी है ।

बिन्दु को वज्रोली मुद्रा के अभ्यास द्वारा सहस्रार में भ्रमरगुफा में पहुँचाने में मेढ्राधार की महती भूमिका है । वज्रोली मुद्रा की सिद्धि के सम्बन्ध में

हठयोगप्रदीपिका में निरूपण है कि बिन्दु को क्षरित होने से रोकने के लिए उसे लिङ्ग के संकोच द्वारा ऊर्ध्वमुख करना चाहिये।

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ।।
(हठयोगप्रदीपिका ३।८५)

वज्रोली के अभ्यास से योगी मृत्यु को जीत लेता है। वीर्य का स्खलन अथवा क्षरण ही मृत्यु है और उसे शरीर में धारण करना ही जीवन है। योगाभ्यास में निपुण योगी को उपस्थ—लिंग इन्द्रिय के छिद्र से (वज्रोली की विधि से) वीर्य का ऊपर की ओर आकर्षण करना चाहिये अथवा योनिमुद्रा के द्वारा अभ्यास करना चाहिये। वीर्य प्राण से संयुक्त है, इसलिये जैविक शक्ति, मानसिक और बौद्धिक विकास तथा शारीरिक कान्ति की वृद्धि के लिये वज्रोली के द्वारा वीर्य के ऊर्ध्वाकर्षण का अभ्यास सिद्ध होने पर योगी संकल्पसिद्ध हो जाता है। मेढ्राधार में स्वाधिष्ठान चक्र अवस्थित है। स्व का अर्थ ही प्राण होता है। भोगवासना की तृप्ति द्वारा वीर्य को स्खलित होने से बचाने के लिये वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करना अत्यावश्यक है। इससे प्राण-शक्ति ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि का भेदन कर शरीर को सौन्दर्य, बल और तेज प्रदान करती है।

पञ्चममोड्याणधारयोर्बन्धनान्मलमूत्रसंकोचनं भवति ।। १४ ।।

पाँचवां उड्डियाण आधार है। (यह लिङ्ग मूल तथा नाभिमूल के मध्य में स्थित है।) इस आधार के बन्ध—नियन्त्रण से मलमूत्र का संकोचन (अल्पता) होता है ।। १४ ।।

विशेष—उड्डियाण आधार का नियन्त्रण करने से योगी अपनी अँतड़ियों और मूत्रेन्द्रिय पर नियन्त्रण कर सकता है, इनके कष्टों का उपचार कर सकता है। प्राण-शक्ति इस आधार की क्रिया और नियंत्रण से ऊपर की ओर तेजी से उठती है, मानो उड़ती है। इसके अभ्यास से नाभि-शुद्धि होती है, वायु की शुद्धि होती है, जठरानल बढ़ता है, शरीर को पोषण मिलता है, रस का संचार होता है। वृद्ध भी उड्डियान के बन्धाधार से तरुण हो जाता है। इस आधार पर ही उड्डियान बन्ध की क्रिया पूरी होती है। नाभि के ऊपर-नीचे के भाग

में आकर्षण—तान करना चाहिये। छः मास में ही मृत्यु पर साधक विजय प्राप्त कर लेता है।

> वद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
> तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।
> (हठयोगप्रदीपिका ३। ५५)

जिस वन्ध से वद्ध प्राण उड़कर (सहज ऊर्ध्वमुख होकर) सुषुम्ना नाड़ी में पहुँच जाता है, वही योगियों द्वारा उड्डियान वन्ध कहा जाता है।

> उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
> उड्डीयानो ह्यसौ वन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥
> (हठयोगप्रदीपिका ३। ५७)

नाभि में ऊपर और नीचे उदर में पीछे की ओर इसतरह आकर्षण करे कि दोनों भाग पीछे पीठ तक पहुँच जायं, यह वन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिये साक्षात् सिंह के समान है।

षष्ठे नाभ्याधार ओङ्कारमेकचित्तेनोच्चारिते नादलयो भवति ॥ १५ ॥

छठाँ नाभि-आधार है। इसमें एकाग्रचित्त से ॐकार के उच्चारण से नादलय होता है ॥ १५ ॥

विशेष—नाभि के मूल में एकाग्र मन से प्रणव का ध्यान करने से नादलय उत्पन्न होता है। मूलाधार में स्थित विंदुरूपा पराशक्ति से उद्भूत शब्द ही नाद है। यह वीजांकुर के समान सूक्ष्म है। नाभि-आधार मणिपुर चक्र का स्थान है। जैविक कार्य का यह एक प्रमुख केन्द्र है। यहाँ सूक्ष्म नाद की अभिव्यक्ति ही शब्द ब्रह्म है। यह नाद ही अपरिवर्तनीय (शाश्वत) पारमार्थिक परम चैतन्य है। यही शब्द ब्रह्म है, जो मूलाधार में सूक्ष्म नादरूप में अभिव्यक्त होता है, यह शक्ति से अभिन्न होता है, यह विन्दु या वीज से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। मूलाधार में नादशक्ति से तदाकार रहता है। स्वाधिष्ठान में यह विन्दु या वीज से तद्रूप होता है और मणिपूर चक्र या नाभि-आधार में सूक्ष्म-क्रमिक

नाद के रूप में प्रकट होता है। योगी इसे योगदृष्टि से देख सकता है। यह प्रणव, ॐ की शाश्वत और मधुर एकरस ध्वनि है।

अक्षरः परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा बिन्दुरूपिणी
तस्यां उत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवाङ्कुरः।
तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः।
(योगशिखोपनिषद् ३।२-३)

महायोगी गोरखनाथजी ने नाभि आधार में शुद्ध नाद पर ध्यान केन्द्रित करने पर विशेष बल दिया है। इसका अभ्यास कान के छिद्र अंगुलियों से बन्द कर ॐ के उच्चारण द्वारा किया जा सकता है।

सप्तमे हृदयाधारे प्राणं निरोधयेत् कमलविकासो भवति ॥ १६ ॥

सातवाँ हृदयाधार है। इसमें प्राणवायु के निरोध (संयमन) से अष्टदल कमल (अनाहत चक्र) का विकास होता है॥ १६॥

विशेष—प्राणवायु का स्थान हृदय है। हृदय-आधार में प्राणशक्ति को संयमित करने से अनाहत चक्र, जो अधोमुख अष्टदल कमल है, ऊर्ध्वमुख होकर खिल जाता है। अधोमुख कमल का तात्पर्य है जीवात्मा साधक की संसार के विषय-सुख की कामनापूर्ति की आसक्ति और इस अष्टदल कमल के ऊर्ध्वमुख खिलने का तात्पर्य है जीवात्मा साधक की परमात्ममुखी आध्यात्मिक उन्नति। (महायोगी गोरखनाथजी ने 'गोरक्षशतक' आदि रचनाओं में इस अनाहत चक्र को द्वादशदल कमल कहा है।) हृदयाधार में प्राणशक्ति कुण्डलिनी विष्णुग्रन्थि का भेदन कर ऊपर उठ जाती है। हृदय-आधार जैविक कार्य का महत्वपूर्ण स्थान है, यह प्राण-अपान वायुओं के ऐक्य का स्थान है। समस्त ध्वनियों से ध्यान को हटाकर यदि इस हृदय-आधार पर केन्द्रित किया जाय तो अनाहत नाद का स्पष्ट श्रवण होता है। कुम्भक प्राणायाम की विधि से इस आधार में प्राण को केन्द्रित करने से योगी की लोकोत्तरानन्दप्राप्ति की यात्रा विशेष गतिमयी हो जाती है।

अष्टमे कण्ठाधारे कण्ठमूलं चिबुकेन निरोधयेदिडापिङ्गल-योर्वायुः स्थिरो भवति ।। १७ ।।

आठवाँ कण्ठाधार है। कण्ठमूल को चिबुक (ठोडी) से निरुद्ध कर (जालन्धरबन्ध के अभ्यास द्वारा) इडा और पिंगला—चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी में वायु को स्थिर किया जाता है। (यही कुम्भक प्राणायाम की सिद्धि है।) इस अभ्यास से वायु स्थिर होती है ।। १७ ।।

विशेष—चिबुक से कण्ठमूल का निरोध होने पर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत नाभिस्थानीय अग्नि (सूर्य के मुख) में गिरकर नष्ट नहीं होता और योगसाधक उस अमृत का स्वयं पान कर शरीर को जीर्ण-शीर्ण होने से बचा लेता है। इस तरह कण्ठमूल के निरोधपूर्वक चिबुक के वक्षःस्थल पर लग जाने से जालन्धर बन्ध सिद्ध होता है। मूल बन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध के अभ्यास हठयोग की साधना में अथवा प्राणायाम की सिद्धि में अमित उपयोगी हैं।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ।।
बध्नाति ही शिरोजालमधोगामिनभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ।।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ।।
कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यो स्तम्भयेद् दृढम् ।।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ।।
(हठयोगप्रदीपिका ३ । ७०–७३)

कंठ (गले के विवर) को संकुचित कर (सिकोड़ कर) साधक को हृदय-देश में (वक्ष के समीप चार अंगुल की दूरी पर) ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक स्थापित (स्थित) करना चाहिये। यह जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु (के भय) को नष्ट कर देनेवाला जालन्धर नामक बन्ध है। यह नाड़ियों के समूह और नीचे की ओर गिरनेवाले कपालकुहर के जल—अमृत को बाँधता (रोकता) है, इसलिये यह जालन्धरबन्ध गले के रोगों—विकारों को नष्ट करता है। जालन्धर बन्ध के अभ्यास से और गले को सिकोड़ने से न तो (कपाल-कुहर का) अमृत अग्नि (जठरानल) में गिरता है और न वायु ही दूषित होती है। कंठ का

संकोच करने से इड़ा और पिंगला नाड़ियों का स्तम्भन हो जाता है, प्राण सुषुम्ना से प्रवाहित होते हुए ऊर्ध्वमुख होता है। यह कण्ठाधार सोलहों आधारों के बन्धनकर्ता मध्यचक्र--अथवा विशुद्धचक्र का स्थान है।

जालन्धर बन्ध के अभ्यास द्वारा साधक इड़ा-पिंगला में प्राणवायु के संचालन पर नियन्त्रण कर मानसिक-जैविक शक्ति को सुषुम्ना-मार्ग से ऊर्ध्वमुखीकर सकता है।

नवमे घण्टिकाधारे जिह्वाग्रं धारयेदमृतकला स्रवति ।। १८ ।।

नौवाँ घण्टिका आधार है। (मुख के भीतर तालु में लटकनेवाले काग का नाम घण्टिका है।) घण्टिका-आधार के मूल भाग में जिह्वा के अग्रभाग को लगाना चाहिये। वहाँ (सहस्रार कमल में स्थित चन्द्रमण्डल से) अमृत का स्राव होता है--(उस अमृत का पान करने से शरीर नीरोग और पुष्ट होता है) ।। १८ ।।

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः ।।
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम् ।
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमा ।।
(शिवसंहिता ५ । १२९–१३०)

ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल कमल है, इसके कन्द की योनि में चन्द्रमा है। इस त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रमा से सुधा का स्राव होता रहता है, जो सदा अमृत धारा के रूप में इडा नाड़ी से प्रवाहित होता हैं। जिह्वा के मूल में एक सूक्ष्म मार्ग है, उसी से यह अमृतकला टपकती है। यह इडा-पिंगला के द्वारा शरीर में निम्न स्तर पर उतर कर नष्ट हो जाती है। जिह्वा को मोड़कर इस अमृत का संस्पर्श कराना ही अमृतपान है, इससे घण्टिका आधार में जिह्वा के अग्र भाग से साधक निरन्तर प्रवाहित अमृत का पान करता रहता है।

दशमे ताल्वाधारे ताल्वन्तर्गर्भे लम्बिकां चालनदोहनाभ्यां दीर्घीकृत्वा विपरीतेन प्रवेशयेत् काष्ठी भवति ।। १९ ।।

दसवाँ तालु आधार है। यह घण्टिका (घाँटी) से ऊपर है। तालु के भीतर छिद्र-मार्ग से जीभ को चालन-दोहन-क्रिया से लम्बी कर उस छिद्र में उलट कर प्रविष्ट करना चाहिये। (इससे खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है।) साधक काठ के समान निश्चल हो जाता है। (इससे अमृतपान और खेचरी मुद्रा का अभ्यास, दोनों सिद्ध होते हैं।) योगसाधक का काठ के समान निश्चल हो जाना ही जड़समाधि है ॥ १९ ॥

विशेष—तालु आधार को तालुचक्र, दसवाँ द्वार, शंखिनी-विवर अथवा अमृतस्राव-केन्द्र कहा जाता है। यह तालु आधार जीभ के अधिक गहरे क्षेत्र में स्थित है। यह आन्तरिक रूप से आज्ञाचक्र और सहस्रार से जुड़ा है। खेचरी मुद्रा के अभ्यास की सिद्धि के लिये जीभ को विधिपूर्वक कोमल बना कर बाहर खींचते हुए लम्बा करना चाहिये, इसके बाद जीभ के अग्रभाग को जिह्वा के मूल के कोमल छिद्र में प्रवेश कराया जाता है। साधक इस क्रिया के द्वारा समस्त बाह्य चञ्चलता से रहित होकर काठ के समान जड़—निश्चल हो जाता है। यह जड़-समाधि है और इस संज्ञा-शून्य स्थिति में भी सहस्रार से स्रवित अमृत के निरन्तर पान से उसकी चेतना रसमयी—आनन्दमयी बनी रहती है।

खेचरी मुद्रा का लक्षण यह है कि कपाल के मध्यवाले छिद्र में जीभ उलटी प्रविष्ट करनी चाहिये और साधक की दृष्टि दोनों भौहों के मध्य स्थित रहनी चाहिये। जीभ को इस मुद्रा की सिद्धि के लिये चालन-दोहन क्रिया से लम्बा किया जाता है। अँगूठे और तर्जनी अँगुली से जीभ को दायें-बायें चालित करना चालन-क्रिया है और जिस तरह गाय के स्तन में अँगुलियों को लगा कर दूध दुहा जाता है, उसी तरह अँगूठे और तर्जनी अँगुली से जीभ को धीरे-धीरे बाहर की ओर खींचकर बढ़ाया जाता है, यह दोहन-क्रिया है। अँगुलियों में इस क्रिया के लिये मक्खन या घी लगा लेना चाहिये। निरन्तर अभ्यास करने से जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि वह भ्रू-मध्य तक पहुँचकर कपाल-रन्ध्र से लग जाती है।

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढ़ां सुधीः ॥
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः।
लम्बिकोर्ध्वस्थितेगर्ते रसनां विपरीतगम् ॥
संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः।
मुद्रैषा खेचरीप्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥
(शिवसंहिता ४। ५१-५३)

जीभ को उलट कर इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा वाले संगम—त्रिपथ में लगाना चाहिये, यह व्योमचक्र है, यही खेचरी मुद्रा है।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥
(हठयोगप्रदीपिका ३। ३७, ४१, ४४)

तालु के ऊपर विवर में ऊर्ध्वमुखी जीभ से सहस्रार से क्षरित चन्द्रामृत का तालु-आधार में पान कर योगी पन्द्रह दिनों में ही मृत्यु के भय से रहित हो जाता है।

एकादशमथ जिह्वाधारं तत्र जिह्वाग्रं धारयेत् सर्वरोग-नाशो भवति॥ २०॥

ग्यारहवाँ जिह्वाधार है। जिह्वामूल में जिह्वा के अग्रभाग को लगाना (स्पर्शपूर्वक स्थिर करना) चाहिये। इस अभ्यास से (साधक के) समस्त रोगों का नाश होता है॥ २०॥

द्वादशं भ्रूमध्याधारं तत्र चन्द्रमण्डलं धारयेत्, शीतलतां याति॥ २१॥

बारहवाँ भ्रूमध्याधार है। वहाँ चन्द्रमण्डल का ध्यान करना चाहिये, उसकी धारणा करने से—ध्यान करने से साधक का अङ्ग शीतल—हृष्टपुष्ट और प्रसन्नतायुक्त होता है॥ २१॥

विशेष—दोनों भृकुटियों का मिलन-स्थान ही भ्रूमध्याधार है, यह आज्ञा चक्र का स्थान है। यहाँ दृष्टि एकाग्र कर जब साधक शुभ्र, स्वच्छ-निर्मल चन्द्र-मण्डल का ध्यान करता है, तब उसका शरीर सौम्य, शान्त और स्थिर हो जाता है। इस स्थान से मन विशेष रूप से अमनस्क की भूमिका में पहुँच जाता है,

इस आधार में दृष्टि की स्थिरता से साधक परम दिव्य ज्योति का दर्शन करता है ।

त्रयोदशं नासाधारं तस्याग्रं लक्षयेन्मनः स्थिरं भवेत् ।। २२ ।।

तेरहवाँ नासिकाधार है, इसके अग्रभाग में दृष्टि एकाग्र कर ध्यान केन्द्रित करने से मन स्थिर होता है--अपने चञ्चल स्वभाव को छोड़ कर आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है ।। २२ ।।

विशेष—नासाधार का स्थान नासिका में होता है । नासिका जैविक कार्यों का महत्वपूर्ण केन्द्र है । योगसाधना की सिद्धि के लिये नासाग्रदृष्टिस्थिरता और नासाग्रध्यान का योगशास्त्र में विशद विवेचन उपलब्ध होता है । इससे मन की उद्‌विग्नता नष्ट हो जाती है और वह गहन समाधि के योग्य हो जाता है ।

चतुर्दशं नासामूलक कपाटाधारं तत्र दृष्टिं धारयेत् षण्मासाज्ज्योति पुञ्जं पश्यति ।। २३ ।।

चौदहवाँ नासामूलक कपाटाधार है, वहाँ दृष्टि स्थिर करनी चाहिये, इससे छः मास में साधक को (परमात्म) ज्योतिपुञ्ज का दर्शन होता है ।। २३ ।।

विशेष --कपाटाधार की स्थिति नासामूल में है । यह स्थान भ्रू चक्र-- आज्ञाचक्र के समीप है । इस आधार में दृष्टि और ध्यान को केन्द्रित करने से सम्पूर्ण मनोमय जगत् प्रकाशित हो उठता है और विज्ञानमय कोष में मन के विलीन अथवा तल्लीन होने पर परमात्म-ज्योति-पुञ्ज का साधक दर्शन करता है, यह अन्तर्ज्योति का दर्शन है ।

पञ्चदशं ललाटाधारं तत्र ज्योतिःपुञ्जं लक्षयेत् तेजस्वी भवति ।। २४ ।।

पन्द्रहवाँ ललाट-आधार है । उसमें ज्योतिः पुञ्ज को लक्ष्य बनाकर उसका ध्यान करना चाहिये । इस ध्यान से योगी तेजस्वी होता है-- दिव्यता को प्राप्त होता है ।। २४ ।।

विशेष—ललाटाधार ललाट के मध्य में है । यहाँ स्वतः प्रकाशित ज्योतिः- पुञ्ज पर ध्यान केन्द्रित करने के लिये साधक को समाधि लगानी होती है । इस

ध्यान के फलस्वरूप उसकी जैविक और मानसिक शक्ति विकसित होती है, उसका शरीर तेजोमय और कान्तियुक्त हो जाता है ।

अवशिष्टे षोडशे ब्रह्मरन्ध्र आकाशचक्रं तत्र श्रीगुरुचरणाम्बुजयुग्मं सदावलोकयेदाकाशवत्पूर्णो भवति । इति षोडशाधारः ॥ २५ ॥

शेष सोलहवाँ ब्रह्मरन्ध्र आधार है । यह आकाशचक्र का स्थान है । इसमें श्रीगुरुके दोनों चरण-कमलों का ध्यान करना चाहिये । इससे साधक आकाश की तरह पूर्ण रूप से (निरवच्छिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप गुरुतत्व का ध्यान करने से) व्यापक—मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

विशेष—ब्रह्मरन्ध्र आधार में आकाशचक्र ही गुरु-स्वरूप के ध्यान के लिये उपयुक्त स्थान स्वीकार किया गया है, इस आधार में गुरु के चरण का ध्यान करने से उनकी प्रसन्नता से परमात्म-ज्योति अभिव्यक्त हो उठती है । इस स्थान में जब मानसिक और जैविक शक्तियों का उच्च से उच्चतर स्तर की समाधि द्वारा साधक पूर्ण न्यास (संस्थापन) करता है, तब उसे गुरु का प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त होता है । गुरु अपने स्वरूप में सच्चिदानन्दविग्रह है और व्यष्टिरूप में शिवशक्ति का रूप है । योगसाधक गुरु के प्रसाद से शाश्वत, सनातन, अलख-निरञ्जन, कैवल्यपद-स्वरूपावस्थित हो जाता है । आकाशचक्र पूर्ण-गिरि-पीठ है, इसमें साधक परमशून्य परमात्मरूप में तादात्म्य-लाभ कर गुरु के प्रसाद से साक्षात् शिवस्वरूप हो जाता है । गुरु के चरण-कमल का ध्यान करने से उसका सदुपदेशामृत सहज प्राप्त होता है ।

भवेद् वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा ।
(शिवसंहिता ३ । ११)

गुरु का स्वरूप नादविन्दु-कलातीत होने पर सम्पूर्ण स्वानन्द-विग्रह होता है और रूप नादविन्दुकलात्मा होने पर शिवस्वरूप होता है । दोनों स्वरूपों में पूर्ण तादात्म्य है । गुरु के चरण-कमल का ध्यान ब्रह्मरन्ध्राधार में पूर्ण विहित है, इससे साधक निरञ्जन पद प्राप्त करता है ।

नमः शिवाय गुरवे नादविन्दुकलात्मने ।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥
(हठयोगप्रदीपिका ४ । १)

महायोगी गोरखनाथ ने अपनी 'गोरक्षशतक' रचना के प्रारम्भ में दो श्लोकों में गुरु का ध्यान किया है, वन्दन किया है, पहले श्लोक में गुरु के स्वानन्द विग्रह का ध्यान है, दूसरे में समस्त योगज्ञान में पारंगत परम गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की बन्दना है।

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमायण चिदानन्दायते तनुः ॥
अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारवेधादिभि ।
र्यो योगी युगकल्पकालकलनातत्वं च जेगीयते ॥
ज्ञानामोदमहोदधि समभवद् यत्रादिनाथः स्वयं ।
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे ॥
(गोरक्षशतक १-२)

गुरु साक्षात् आदिनाथस्वरूप है, इस भाव के द्वारा उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ (मीननाथ) के चरण-कमल का चिन्तन किया है। गोरखनाथजी ने गुरु-चरणकमल की बन्दना से आत्मब्रह्मदर्शन किया है।

प्रथमें प्रणऊँ गुर के पाया। जिन मोहि आत्मब्रह्म लषाया।
सतगुरु सबद कह्या तैं बूझया। तृहूँ लोक दीपकमनि सूझया॥
(गो० बा० प्राणसंकली १)

गोरखनाथजी ने इस तरह स्वीकार किया है कि सबसे पहले मैं गुरुदेव (योगिराजेश्वर मत्स्येन्द्र नाथ) के चरण (कमल) में प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने (कृपापूर्वक) मुझे अपने ही शरीर में विद्यमान आत्मब्रह्म, अलख निरञ्जन परम शिव का (ज्ञाननेत्र से) साक्षात्कार अथवा दर्शन कराया। सद्गुरु के शब्द उपदेशामृत) से मुझे (ज्ञान-) दीपमणि की प्राप्ति हो गयी और तीनों लोक मेरे ज्ञाननेत्र में प्रकाशित हो गये।

इस तरह सोलह आधारों के योग-साधनापरक ध्यान का वर्णन किया गया।

तीन लक्ष्य

अथ लक्ष्यत्रयन्तत्रतावदन्तर्लक्ष्यं कथ्यते। मूलकन्दाद् दण्डलग्नां ब्रह्मनाड़ीं श्वेतवर्णां ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं गतां संस्मरेत्

तन्मध्ये कमलतन्तुनिभां विद्युत्कोटिप्रभामूर्ध्वगामिनीं तां मूर्ति मनसा ध्यायेत् तत्र सर्वसिद्धिदा भवति ॥ २६ ॥

(मन को स्थिर करने के उपाय का निरूपण किया जाता है। मन को वश मे करने से इष्ट की—अभिलषित ध्येय की सिद्धि होती है।) अन्तर, बहिः और मध्य के भेद से तीन प्रकार से लक्ष्यों का वर्णन किया जाता है। (अन्तर लक्ष्य का वर्णन है। मूल कन्द मेढ्र के ऊपरी भाग और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के समान स्थित है। इस मूलकन्द से बहत्तर हजार नाड़ियों की उत्पत्ति कही गयी है।) मूलकन्द से सहस्रार पर्यन्त मेरुदण्ड में श्वेतवर्ण की ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना का ध्यान करना चाहिये, उस सुषुम्ना में कमल-तन्तु के समान करोड़ों बिजलियों के समान प्रकाशमयी ऊर्ध्वगामिनी कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करना चाहिये। इस ध्यान से कुण्डलिनी समस्त सिद्धियों को प्रदान करती है ॥ २६ ॥

विशेष—महायोगी गोरखनाथजी की दृष्टि में लक्ष्य वे विषय हैं, जिनपर मानसिक-जैविक शक्ति को उच्चतम अध्यात्मिक स्तर पर उठाने और ब्रह्माण्ड तथा व्यष्टि-शरीर में परमात्म-सत्ता का दर्शन करने के लिये अस्थायी रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाता है। समाधि या धारणा के चुने हुए पदार्थ की स्थिति के अनुसार भीतरी, बाहरी और मध्य, तीन तरह के लक्ष्य निरूपित हैं। सुषुम्ना नाड़ी में कुण्डलिनी शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करना अन्तर्लक्ष्य-साधना है। यह कुण्डलिनी इस तरह लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करने वाले योगसाधक को महेश्वरी महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के रूप में अभिव्यक्त होकर अनेक प्रकार के आध्यात्मिक और लौकिक वरदान तथा सिद्धियाँ प्रदान करती है। शिवस्वरूप में तादात्म्य होने पर वह साधक को दिव्य स्वरूप में अवस्थित कर देती है। जब मन आन्तरिक आत्मा पर केन्द्रित हो जाता है, तब न केवल मन ही, प्रत्युत शरीर भी इसके आध्यात्मिक स्वरूप के प्रकट हो जाने पर दिव्य हो जाता है।

अथवा ललाटोर्ध्वे गोल्लाटमण्डपे स्फुरदाकारं लक्षयेदथवा भ्रमरगुहामध्य आरक्तभ्रमराकारं लक्षयेदथवा कर्णद्वयं तर्जनीभ्यां निरोधयेत् ततः शिरोमध्ये धूं धूं कारं नादं शृणोत्यथवा चक्षुर्मध्ये नीलज्योतिरूपं पुतल्याकारं लक्षयेदित्यन्तर्लक्ष्यम् ॥ २७ ॥

मस्तक के ऊपर का भाग गोल्लाट है। गोल्लाट के चल आकार का ध्यान करना चाहिये अथवा मेरुदण्ड के सम्मुख ग्रीवा से ऊपर का स्थान भ्रमर गुफा कहा जाता है। इस भ्रमरगुफा में लाल रंग के भ्रमर के आकार का ध्यान करना चाहिये अथवा दोनों कानों के छिद्रों को दोनों तर्जनी अँगुलियों से यथाक्रम आच्छादित (निरुद्ध) करना चाहिये, इससे सिर के मध्य भाग में धूं धूं कार नाद (शब्द) का श्रवण होता है अथवा नेत्रों में नीली ज्योति वाली पुतली के आकार का ध्यान करना चाहिये। यही अन्तर्लक्ष्य का निरूपण है ।। २७ ।।

विशेष—गोल्लाट केन्द्र सहस्त्रार में ललाट के ठीक ऊपर है। इसमें एक ज्योतिःपुंज प्रज्वलित है। इस पर मन को केन्द्रित करने से साधक की चेतना दिव्य प्रकाश से आलोकित हो उठेगी, उसका व्यक्तित्व आध्यात्मिक ज्योति से दिव्य हो जाता है। भ्रमर गुफा स्नायुदण्ड या रीढ़-संस्थान के ऊपर सहस्त्रार के पृष्ठ भाग में स्थित है। इस स्थान में साधक अपने वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर सुरक्षित रखता है, इस भ्रमर गुफा में ध्यान केन्द्रित करने से योगसाधक को काम, कामवासनायें और इन्द्रियों की उत्तेजनायें नहीं सताती हैं, वह शान्त, स्थिर और मुक्त रहता है। इस केन्द्र में जीवन अथवा प्राणशक्ति को लाल रंग के भ्रमर के आकार की तरह कल्पित कर ध्यान केन्द्रित कर दिव्य आनन्द का अनुभव किया जाता है। योगी को अमृतत्व प्राप्त होता है, वह शिव-शक्ति तादात्म्य अनुभव करता है। मस्तक के भीतर धूं धूं कार नाद पर ध्यान केन्द्रित करने से यह नाद ओंकार का रूप ग्रहण कर लेता है, इस नाद के श्रवण के फलस्वरूप योगी अलखनिरंजन का साक्षात्कार करता है। नेत्रों से आन्तरिक केन्द्र में नीली ज्योति पर ध्यान केन्द्रित करने से योगसाधक की चेतना और व्यक्तित्व में दिव्यता भर उठती है।

बहिर्लक्ष्यं कथ्यते नासाग्राद् बहिरङ्गुलद्वयमारक्तं तेजस्तत्वं लक्षयेदथवा दशाङ्गुले कल्लोलवदप्तत्वं लक्षयेदथवा नासाग्रद् वा दशाङ्गुले पीतवर्णं पार्थिवतत्वं लक्षयेदथवा काशमुखं दृष्ट्वाऽवलोकयेत् किरणानाकुलितं पश्यति सर्वं निर्मलीकरणमथवोर्ध्वदृष्ट्यन्तरालं लक्षयेज्ज्योतिर्मुखानि पश्यत्यथवा तदभ्यन्तरं तत्राकाशं लक्षयेदाकाशसदृशचित्तं

मुक्तिप्रदं भवत्यथवा दृष्ट्यन्तस्तप्तकाश्चनसन्निभां भूमिं लक्षयेद् दृष्टि : स्थिरा भवति । इत्यनेकविध बहिर्लक्ष्यम् ॥ २८ ॥

बाहरी लक्ष्य का निरूपण किया जाता है । नासिका के अग्रभाग में दो अंगुल आगे लाल रंग के तेज का ध्यान करना चाहिये अथवा नासिका से दस अंगुल आगे तरंगयुक्त श्वेत वर्ण के जलतत्व का ध्यान करना चाहिये अथवा नासाग्र से द्वादश अंगुल की दूरी पर पीले रंग के पृथ्वीतत्व का ध्यान करना चाहिये अथवा आकाश के सम्मुख दृष्टि कर आकाश का ध्यान करना चाहिये । इस तरह साधक ज्योतिः पुंज को देखता है, जिससे चित्त आकाश की तरह निर्मल और व्यापक हो जाता है अथवा ऊपर आकाश की ओर दृष्टि कर आकाश का ध्यान करने से चित्त आकाश की तरह मुक्तिप्रद हो जाता है अथवा दृष्टि को अन्तर्मुखी कर तप्त सोने की रंगवाली पृथ्वी का ध्यान करने से दृष्टि स्थिर होती है । इस तरह अनेक बहिर्लक्ष्य पर ध्यान एकाग्र करने का वर्णन किया गया ॥ २८ ॥

विशेष--खुले नेत्र से साधक अपने मन को बाह्य जगत् की समस्त विभिन्नताओं से मुक्त कर अपनी एकाग्र शक्ति से स्वर्णिम ज्योति के विशाल क्षेत्र में संयमित कर परमात्मा के दिव्य साक्षात्कार से अपने-आप को कृतार्थ कर सकता है । समस्त बाह्य तत्वों (पदार्थों) में मन की एकाग्रता द्वारा साधक परमात्मा की अभिव्यक्ति का अनुभव करता है , बाह्य लक्ष्य दृष्टि की स्थिरता अथवा मन की एकाग्रता अथवा ध्यान की तल्लीनता की यही सार्थकता है । बाह्य लक्ष्य में सूर्य, चन्द्र, विशेष तारा, नक्षत्र, ग्रह, जलते दीपक, प्रज्वलित अग्नि, दिव्य प्रतिमा, पूज्य व्यक्ति के चित्र आदि पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये ।

अथ मध्यमं लक्ष्यं कथ्यते श्वेतवर्णं वा रक्तवर्णं वा कृष्णवर्णं वाग्निशिखाकारं वा ज्योतीरूपं वा विद्युदाकारं वा सूर्यमण्डलाकारं वाऽर्धचन्द्राकारं वा यथेष्टं स्वपिण्डमात्रं स्थानवर्जितं मनसा लक्षयेदित्यनेकविधं मध्यमं लक्ष्यम् ॥ २९ ॥

मध्य लक्ष्य का निरूपण किया जाता है । इसमें स्थानविशेष पर लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया जाता है, किसी श्वेतरंग या लालरंग या काले रंग के पदार्थ पर अथवा अग्निशिखा के आकार वाले पदार्थ पर अथवा ज्योति अथवा विद्युत् के (समान प्रभायुक्त) आकार अथवा सूर्यमण्डलाकार अथवा अर्धचन्द्राकार

अथवा अपने शरीर में ही यथेष्ट अंग पर मन को एकाग्र—स्थिर कर (विना किसी स्थान विशेष की कल्पना के ही) ध्यान को केन्द्रित करना चाहिये । इस तरह अनेक प्रकार के मध्यम लक्ष्य पर ध्यान एकाग्र करने का वर्णन किया जाता है ।। २९ ।।

विशेष—मध्यम लक्ष्य का तात्पर्य है विशेष ध्यान का कोई पदार्थ, जिसे न तो शरीर के भीतर कल्पित किया जाता है और न बाहर, न मनको जिस पर विना किसी स्थान पर उसका संकेत पाये केन्द्रित करना होता है। एक विशेप पदार्थ का विचार मनमें सयत कर सम्पूर्ण ध्यान इसी पर केन्द्रित किया जाता है। पदार्थ का चुनाव साधक की अभिरुचि पर निर्भर है । लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करने से मन की चंचलता मिट जाती है । ध्यान एकाग्र करने का पदार्थ वास्तविक या काल्पनिक तेजोमय अथवा शीतल, आकाररहित अथवा आकारसहित हो सकता है । लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित रखने की अवधि में योगसाधक को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि उसे अपने भीतर (शरीर के भीतर) तथा ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के भीतर सभी स्तरों की प्रापंचिक सत्ताओं में शिवशक्ति के आनन्दमय तादात्मय का साक्षात्कार करना है तथा स्वरूपानन्द में तल्लीन होना है ।

व्योमपंचक

अथ व्योमपञ्चकं लक्षयेदाकाशं पराकाशं महाकाशं तत्त्वाकाशं सूर्याकाशमिति व्योमपञ्चकं बाह्याभ्यन्तरेऽत्यन्त निर्मलं निराकारमाकाशं लक्षयेदथवा बाह्याभ्यन्तरेऽत्यन्तान्ध कारनिभं पराकाशमवलोकयेदथवाभ्यन्तरकालानलसंकाशं महाकाशमवलोकयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे निजतत्वस्वरूपं तत्वा-काशमवलोकयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे सूर्यकोटिनिभं सूर्याकाश-मवलोकयेत् स्वयं व्योमपञ्चकावलोकनेन व्योमसदृशो भवति ।।३०।।

(आत्मा का स्वरूप आकाश की तरह व्यापक है। उस आत्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति के लिये ध्येयरूप पाँच आकाश का ध्यान निर्दिष्ट किया जाता है ।) आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्वाकाश और सूर्याकाश—आकाश के पाँच भेद हैं, यही व्योमपंचक कहा जाता है । शरीर के बाहर-भीतर अत्यन्त निर्मल

निराकार आकाश का ध्यान करना चाहिये अथवा शरीर के बाहर-भीतर अत्यन्त अन्धकारमय पराकाश का ध्यान करना चाहिये, शरीर के भीतर प्रलयकाल की अग्नि के समान महाकाश का ध्यान करना चाहिये अथवा (चिदाकाश) तत्वाकाश का ध्यान करना चाहिये; अथवा शरीर के बाहर-भीतर करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमय सूर्याकाश का ध्यान करना चाहिये । इस तरह साधक पाँचों आकाश का ध्यान कर आकाश के समान निर्मल, व्यापक, तेजोमय और दिव्य हो जाता है ॥ ३० ॥

विशेष—मन को आकाश या शून्य पर एकाग्र करने से व्यावहारिक व्यष्टि-चेतना की शुद्धि होती है । वह चेतना व्योम में समान सर्वव्यापक हो जाती है ।

उक्तं च—

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः ॥ ३१ ॥

जो योगी शरीर में स्थित नौ चक्र, सोलह आधार, तीनों लक्ष्य और पाँचों व्योम को अच्छी तरह नहीं जानता है, वह नाम मात्र से ही योगी है, योगतत्त्वज्ञ नहीं है ॥ ३१ ॥

अष्टांगयोग

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टांवङ्गानि । यम इति उपशमः सर्वेन्द्रियजयआहारनिद्राशीतवातातपजयश्चैवं शनैः शनैः साधयेत् ॥ ३२ ॥

(अष्टांगयोग का वर्णन किया जाता है ।) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये ही योग के आठ अंग हैं । यम का आशय है उपशम (इन्द्रियादि को वश में रखकर शान्ति) प्राप्त करना । साधक को धीरे-धीरे यथाक्रम समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ओर से मोड़कर आत्मचिन्तन में लगाकर उन्हें वश में रखकर आहार, निद्रा, शीत, वात और आतप आदि द्वन्द्वों को नियन्त्रित कर (युक्ताहारविहार-पूर्वक) योगसाधना में तत्पर होना चाहिये ॥ ३२ ॥

विशेष—यद्यपि सिद्धमत अथवा नाथयोग-परम्परा में यम-नियमव्यतिरिक्त आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में षडंगयोग की साधना पर ही विशद विवेचन उपलब्ध होता है तथापि जीवमात्र की सुगमता को ध्यान में रखकर योगसाधक के लिये महाकारुणिक गोरखनाथजी ने सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति में अष्टांगयोग पर प्रकाश डालकर यम और नियम की सदुपयोगिता और सार्थकता को महत्व दिया है। षडंगयोग के प्रतिपादन में गोरखनाथजी के वचन हैं :

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥
(गोरक्षशतक ७)

अष्टांगयोग के अंगों का दत्तात्रेय-संहिता में विवेचन है :

यमश्चनियमश्चैव आसनं च ततः परम् ।
प्राणायामश्चतुर्थः स्यात् प्रत्याहारश्च पञ्चमः ॥
षष्ठी तु धारणा प्रोक्ता ध्यानं सप्तममुच्यते ।
एवमष्टाङ्गयोगं च याज्ञवल्क्यादयो विदुः ॥
(दत्तात्रेयसंहिता)

गोरखनाथजी के अष्टांग-योगानुक्रम और महर्षि पतञ्जलि के क्रमनिरूपण में सम्पूर्ण तादात्म्य है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।
(पातञ्जलयोगदर्शन २ । २९)

महर्षि पतञ्जलि ने यम पाँच माने हैं। वे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह-अभाव) हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
(पातञ्जलयोग० २ । ३०)

नाथयोगपरम्परा के योगशास्त्र में दस यमों की स्वीकृति है। हठयोग-प्रदीपिका में वर्णन है :

अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥
(हठयोगप्रदीपिका १ । १७)

विवेकमार्तण्ड में यम के ये ही लक्षण वर्णित हैं । जिसमें प्राण-विच्छेद के व्यापार का अभाव हो, वह अहिंसा है । सत्य से आशय यथार्थ भाषण का है। दूसरे के पदार्थ का अपहरण न करना अस्तेय है, जितेन्द्रियता ब्रह्मचर्य है, सहन-शीलता क्षमा है, धैर्य ही धृति है, दूसरे के दुःख को मिटाने की इच्छा दया है। निष्कपट व्यवहार ही आर्जव है, चतुर्थांशविवर्जित सात्विक आहार का सेवन ही मिताहार है, श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित नित्यकर्मजन्य शुद्धि ही शौच है । इन दशों लक्षणों के संदर्भ में इन्द्रियजय, आहारनिद्रा तथा शीतादि द्वन्द्व की जय आदि से उपशम की प्राप्ति होती है । यम को गोरखनाथ ने उपशम का पर्याय कहा है। इससे सात्विक साधनामय जीवन का प्रारम्भ होता है। साधक वाह्य व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से निवृत्त होकर निष्काम कर्म के आचरण को महत्व देता है ।

नियम इति मनोवृत्तिनां नियमनमित्येकान्तवासो निःसङ्गतौदासोन्यं यथाप्राप्तिसन्तुष्टिर्वैरस्यं गुरुचरणावरूढ़त्वमितिनियमलक्षणम् ।। ३३ ।।

मन के व्यापार का नियमन—नियन्त्रण ही नियम है, एकान्तवास, असङ्गता, उदासीनता, जो कुछ भी (जीविका के निर्वाह के लिये) प्राप्त हो जाय, उसमें संतोष धारण करना, राग-द्वेष रूपीद्वन्द्वों में उपरामता और गुरुचरण के आश्रय में ही निर्भरता नियम के लक्षण हैं ।

विशेष—महर्षि पतञ्जलि ने नियम के पाँच लक्षण स्वीकार किये हैं, वे शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (शरणागति) हैं ।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।।
(पतञ्जलि योगदर्शन २।३२)

विवेकमार्तण्ड-८ में गोरखनाथजी ने तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप, और हवन को नियम के दस लक्षण बताये हैं । इसी तरह हठयोगप्रदीपिका में उल्लेख है ।

तपःसन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपोहुतम् ।

नियमा दशसंप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।
(हठयोग० १।१८)

हठयोगप्रदीपिका का कथन शिवसंहिता-सम्मत है। नियम-पालन के सम्बन्ध में भगवान् शिव का स्पष्ट आदेश है कि सिद्धान्तग्रन्थों का श्रवण करना चाहिये। परमेश्वर सर्वव्यापक का नाम-संकीर्तन करना चाहिये, शुभ को ही कानों से सुनना चाहिये, धृति, क्षमा, तप, शौच और लज्जा का ध्यान रखना चाहिये, गुरु का सेवन करना चाहिये। वैराग्य भाव से घर में रहना चाहिये।

सिद्धान्तश्रवणं नित्यं वैराग्यगृहसेवनम्।
नामसङ्कीर्तनं विष्णोः सुसादश्रवणं परम्॥
धृतिः क्षमा तपः शौचं ह्रीर्मतिगुरुसेवनम्।
सदैतांश्च परं योगी नियमांश्च समाचरेत्॥
(शिवसंहिता ३।४१-४२)

इस सिद्धसिद्धान्तपद्धति रचना में गोरखनाथजी ने दस नियमों को ध्यान में रख कर उन्हें पाँच प्रकार के लक्षित किये हैं। एकान्तवास, उदासीनता, यथाप्राप्ति संतुष्टि, वैरत्याग, और गुरुचरणाश्रय। एकान्तवास का अभिप्राय है जनसम्पर्क से दूर रह कर योगमठ आदि के वातावरण में कुटी का निर्माण कर उसमें निवास करते हुए विषय-भोग में आसक्त न होना। सर्वथा निःसंग रहना। उदासीन और द्वन्द्वों में तटस्थ रहकर निःस्पृह भाव से साधन में तत्परता ही उदासीनता है। शत्रु और मित्र में समान भाव रखकर मन में कभी राग-द्वेष न उत्पन्न होने देना ही वैर का अभाव है। जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तुष्ट और प्रसन्न रहना यथाप्राप्ति-संतुष्टि है और गुरु के प्रसाद—प्रसन्नता से ही उनकी सेवा में प्रवृत्त रहने से योगसाधक को स्वरूपावस्थान की प्राप्ति होती है। एकान्तवास, निःसंगता के सम्बन्ध में श्रीमदभगवद्गीता का कथन है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
(गीता ६।१०)

मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने वाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी को अकेला ही एकान्त स्थान में निवास कर आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाना चाहिये। गीता के ही बारहवें अध्याय के १९ वें, श्लोक के—

'अनिकेत: स्थिरमति:' वचन से यह भाव स्पष्ट हो जाता है। उदासीनता के सम्बन्ध में गीता में विवेचन है कि जो साधक समस्त कामनाओं का त्याग कर ममता-अहंकारस्पृहारहित होकर जीवन-यापन करता है, वहाँ शान्ति को प्राप्त होता है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २।७१)

यथाप्राप्ति संतुष्टि का आशय है दुःखों की प्राप्ति होने पर मन में उद्वेग न होना, सुखों की प्राप्ति में सर्वथा निःस्पृह रहना।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
(गीता २।५६)

इसी भाव का गीता में स्पष्टीकरण किया गया है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।
(गीता १२।१६)

गोरखनाथजी ने रागद्वेष से ऊपर उठजाना साधक के लिए बहुत आवश्यक नियम बताया है। जो सर्वत्र स्नेह (राग) रहित होकर शुभ-अशुभ वस्तु की प्राप्ति में न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है, वही स्थिरबुद्धि साधक है। ऐसा पुरुष न किसी से द्वेष करता है, न किसी में रागयुक्त होता है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
(गीता १२।१८)

गोरखनाथजी ने गुरु के चरणाश्रय में साधक के शरीर का चिन्मय होना स्वीकार किया है, चिन्मयता का अर्थ स्वरूप में स्थिति है। गोरखनाथजी का कथन है।

सतगुरु मिलै तो सांसा भागै । मूल विचार्‌या माहीं ॥
(गो० बानी ग्यानतिलक ४०)

महायोगज्ञान से सम्पन्न सद्‌गुरु की शरणागति से योगसाधक अपने हृदय में मूलतत्व—अलखनिरंजन के स्वरूप का विचार करता है। इसके परिणामस्वरूप उसका संशय (व्यामोह) नष्ट हो जाता है।

आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता स्वस्तिकासनं पद्मासनं सिद्धासनमेतेषां मध्ये यथेष्टमेकं विधाय सावधानेन स्थातव्यम्। इत्यासनलक्षणम् ।। ३४ ।।

अपने (स्वसंवेद्य, द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्म) स्वरूप में चेतना की संस्थिति अथवा स्थापन (समासन्नता) ही आसन है। स्वस्तिकासन, पद्‌मासन, सिद्धासन—इन तीनों में से एक आसन में (योगयुक्ति की) विधि से सावधान होकर (ध्येय तत्व में) स्थिर हो जाना, ठहर जाना ही आसन का लक्षण है ।। ३४ ।।

विशेष—महायोगी गोरखनाथजी की दृष्टि में यद्यपि बाह्य आसनाभ्यास का विशेष महत्व नहीं है, तथापि उन्होंने साधना में संतुष्टि के लिये आसनों की दिशा में स्वस्तिकासन, पद्‌मासन और सिद्धासन को वरीयता प्रदान की है। उन्होंने कहा है।

> आसण दिढ़ अहार दिढ़ जे न्यंद्रा दिढ़ होई।
> गोरष कहै सुणौ रे पूता मरै न बूढ़ा होई ।।
> (गोरखबानी सवदी १२५)

महर्षि पतञ्जलि ने सुखपूर्वक बैठने को आसन कहा है। शरीर को सीधा और स्थिर कर सुखपूर्वक बैठ कर समस्त चेष्टा के त्यागपूर्वक प्रयत्न के शैथिल्य और अनन्त अलखनिरञ्जन परमात्मा में मन को प्रवृत्त करने से ही आसन की सिद्धि होती है और साधक द्वन्द्वों से विमुक्त होकर स्वरूप (सुख) में समासन्न हो उठता है।

'स्थिरसुखमासनम्'
(योगदर्शन २ । ४६)

महर्षि पतञ्जलि और महायोगी गोरखनाथ की शब्दावली 'स्थिरसुख मासनम्' और 'स्वस्वरूपे समासन्नता' में योगासनों के अभ्यास की फलदृष्टि में

तादात्म्य परिलक्षित है। उपर्युक्त (पातञ्जल सूत्र २।४६) के व्यासभाष्य और भोजवृत्ति में भी परमात्मा में चित्त की तदाकारता ही स्वरूपसमासन्नता का प्रतिपादन है। व्यासभाष्य में संकेत है :—

अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति।

अनन्त में समापन्न चित्त आसन को सिद्धि करता है। भोजवृत्ति में यही बात उपलक्षित है।

यदा चाकाशादिगत आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽव्यवधानेन तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहंकाराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति।

जब आकाश आदि में रहनेवाली अनन्तता में चित्त व्यवधानरहित तदाकार किया जाता है, तब उसकी तद्रूपता प्राप्त हो जाने पर शरीराभिमान का अभाव हो जाने से देह की सुधि न रहने से आसन दुःख का उत्पादक नहीं होता। यही स्वरूप में समासन्नता का विशिष्ट फल है।

जानु और ऊरु (जंघाओं) के मध्य में पैरों के तलवों को अच्छी तरह लगाकर समान अवस्था में शरीर को एकसीध में कर बैठना ही स्वस्तिक आसन है।

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते॥
(हठयोगप्रदीपिका १।२१)

इस आसन के द्वारा योगाभ्यासी वायु का साधन यथाशीघ्र करने में सफल होता है। राजयोग-साधना में इसे बहुत उपयोगी कहा गया है, इस आसन में मन स्थिर होता है, साधक को ध्यान में सुविधा होती है, रीढ़ की स्थिरता बनी रहती है, वीर्य उर्ध्वमुखी होता है, ब्रह्मचर्य की शक्ति बढ़ती है। भगवान् शिव का कथन है।

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम्।
स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम्॥
(शिवसंहिता ३।११८)

स्वस्तिक आसन के अभ्यास से सभी दुःखों का नाश होता है, यह आसन परम गोप्य है, सर्वश्रेष्ठ और कल्याणकारी है ॥

पद्मासन दूसरा आसन है, जिसे 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में गोरखनाथजी ने महत्व दिया है।

वामोरूपरि दक्षिणञ्च चरणं संस्थाप्यवामं तथा
दक्षोरूपरि पाश्चमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढ़म् ।
अङ्गुष्ठौ हृदयेनिधाय चिबुकं नासाग्रमवलोकये-
वेतद् व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥
(गोरक्षशतक-१२)

वाम ऊरु, जानुमूल में दाहिना पैर स्थापित करे और उसी तरह दायें जानुमूल में वायाँ पैर स्थिर करे और दोनों हाथों को पीछे से ले जाकर दायें हाथ से वायें पैर के अँगूठे और वायें हाथ से दायें पैर के अँगूठे को दृढ़ता से पकड़ कर चिबुक को हृदय से लगाकर नासा के अग्र भाग को दोनों नेत्रों से देखे, यही समस्त व्याधि तथा मानसिक-शारीरिक विकारों को नष्ट करनेवाला पद्मासन है।

भगवान् शिव का कथन है कि इस आसन का अभ्यास करनेवाले साधक के प्राण सम हो जाते हैं और सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। जो योगी पद्मासन में स्थित होकर प्राण-अपान के ऐक्य का अभ्यास सिद्ध कर लेता है, वह निःसन्देह संसार-सागर के पार उतर जाता है।

अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ॥
पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः :
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥
(शिवसंहिता ३ । १०६–११०)

इस आसन के अभ्यास से स्वरूपावस्थान सिद्ध होता है।

पद्मासने स्थितो योगी नाड़ीद्वारेण पूरितम् ।
मारुतं धारयेद् यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥
(हठयोगप्रदीपिका १ । ५१)

पद्मासन में स्थित जो योगी नाड़ी-द्वार से पूरित की गयी वायु स्थिर कर लेता है—सुषुम्ना में स्थापित कर ऊर्ध्वमुखी कर लेता है, वह मुक्त (अपने स्वरूप में स्थित) हो जाता है ।

स्वरूप में स्थिति की दृढ़ता के लिये सिद्धासन का अभ्यास वहुत आवश्यक है।

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्
मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तर
मेतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥
(गोरक्षशतक–११)

गुदा और मेढ़ू के मध्य में योनि, कुण्डलिनी-स्थान है । योगी इस योनि स्थान को बायें पैर की एड़ी से दवा कर दायें पैर की एड़ी को मेढ़ू (उपस्थ) पर लगा ले, शरीर को सीधा रखे, सभी इन्द्रियों को वश में रखे, भ्रू के मध्य में दृष्टि को स्थिर कर विना हिले-डुले रहे, यही मोक्ष के दरवाजे को खोलनेवाला सिद्धासन कहा गया है ।

यह आसन सिद्धों को भी सिद्धि प्रदान करनेवाला है । इस सिद्धासन के अभ्यास से साधक को योगज्ञान प्राप्त हो जाता है । वायु के अभ्यासी के लिये यह आसन वड़ा उपयोगी है । योगी संसार-सागर से पार होकर मुक्तिपूर्वक परम गति पाता है । इसके ध्यान मात्र से योगी पाप से छूट जाता है ।

येनाभ्यासवशात् शीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ।
सिद्धासनं सदा सेव्यं पवनाभ्यासिना परम् ॥
ये संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम् ।
नातः परतरं गुह्यासनं विद्यते भुवि ।
येनानुध्यानमात्रेण योगी पापाद् विमुच्यते ॥
(शिवसंहिता ३ । १०३–१०४)

सिद्धासन का अभ्यास अत्यन्त शुभकारी और परमोपयोगी है ।

प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता । रेचकपूरककुम्भक संघटकरणानि चत्वारि प्राणायामलक्षणानि ॥ ३५ ॥

शरीर की नाड़ियों में प्राण के प्रवाह के प्रयासपूर्वक उसे स्थिर रखने की क्रिया ही प्राणायाम है। रेचक, पूरक, कुम्भक और प्राण-अपान का मेलन—संघट-करण प्राणायाम के चार भेद हैं। ये ही प्राणायाम के लक्षण हैं ॥ ३५ ॥

विशेष—गोरखनाथजी ने शरीर में जीवनी-शक्ति को अक्षुण्ण रखने के लिये प्राणायाम पर विशेष बल दिया है। रेचक वायु को बाहर निकालना है, पूरक में नासारन्ध्र से वायु को भीतर भरा जाता है और शरीर के भीतर वायु को स्थिर रखने की क्रिया कुम्भक है, प्राणवायु और अपानवायु का ऐक्य ही संघटकरण है। योगियों ने प्राणायाम को पाप को जलाने वाला पावक कहा है और संसार-सागर का महासेतु बताया है। प्राणायाम में ही योगी का मोक्षदायक धर्म प्रतिष्ठित है तथा उसके सभी दोष—विकार नष्ट होते हैं।

प्राणायामे महान्धर्मो योगिनो मोक्षदायकः ।
प्राणायामे दिवारात्रौ दोषजालं परित्यजेत् ॥
(विवेकमार्तण्ड ११४)

हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम की महत्ता और विधि पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। प्राणवायु के स्थिर होने पर ही चित्त निश्चल होता है। चित्त-वृत्ति का निरोध होता है। षट्कर्म धौति, वस्ति, कपालभाति, नौलि, नेति, त्राटक आदि क्रियाओं से शरीर का शोधन होने पर नाड़ियाँ मलरहित हो जाती हैं।

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यंकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥
प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।
(हठयोगप्रदीपिका २ । ३६–३७)

अपान और प्राण के एक होने पर वायु की सुषुम्ना में ऊर्ध्वगति होती है, यह केवल कुम्भक की सिद्धि से ही सम्भव है। रेचक और पूरक छूट जाते हैं तथा प्राण की केवल कुम्भक से शरीर के भीतर स्थिरता स्थापित हो जाती है। अपान-प्राण के संघटकरण पर गीता में उल्लेख है कि अनेक (दूसरे) योगी अपानवायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, अन्य प्राणवायु में अपान-वायु को हवन

करते हैं, अन्य नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपान की गति रोक कर प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। ये सभी यज्ञों द्वारा पापों का नाश करनेवाले और यज्ञों को जानने वाले हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणोऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥
(गीता ४ । २९-३०)

महर्षि पतञ्जलि ने आसन की अभ्यास-सिद्धि के बाद श्वास-प्रश्वास के गति-विच्छेद को प्राणायाम कहा है। गति-विच्छेद का आशय है गति का रुक जाना, गति-विच्छेद ही प्राण की स्थिरता है, जिसका संकेत महायोगी गोरखनाथजी ने किया है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥
(योगदर्शन २ ४९)

पतञ्जलि ने भी गोरखनाथजी की ही तरह प्राणायाम के चार भेद स्वीकार किये हैं, वे वाह्य (रेचक), आभ्यन्तर (पूरक) और स्तम्भ (कुम्भक) की वृत्ति वाले हैं और वाह्य-आभ्यन्तर विषय-वृत्ति का त्याग ही चौथा (संघटकरण) प्राणायाम है।

वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः । ……… …वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।

(योगदर्शन २।५०-५१)

प्राणवायु को नासारन्ध्रों से यथानुक्रम वाहर निकालना और देखना कि कहाँ कितने समय तक वह स्थिर है, रेचक है। प्राणवायु नासारन्ध्रों से यथानुक्रम भरना पूरक है और शरीर के भीतर प्राण के जाने और वाहर निकल ने की गति का अभ्यास न कर, वह जहाँ हो, उसकी गति को स्तम्भित कर देना कुम्भक है। बाहर और भीतर जाने-आने वाले प्राण की गति का त्याग कर देने से मन को इष्ट-चिन्तन में लगा देना और देश-काल-संख्या के ज्ञान के बिना प्राण की गति का (जिस किसी देश में–सुषुम्ना में) ठहरना चौथा प्राणायाम है। यह राजयोग का

प्राणायाम है। यही प्राण-अपान अथवा अपान-प्राण का पारस्परिक हवन अथवा यज्ञकर्म है। यही संघटकरण प्राण-अपान का मेलन है। महायोगी गोरखनाथ जी ने कहा है कि अपान-वायु के निरोध से देह में स्थित प्राणवायु का उसमें एकश्वासमय होकर ऊर्ध्वगामी होना प्राणापान के मेलन अथवा ऐक्य का स्वारस्य है।

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात्।
एकश्वासमयो भूत्वोद्घाटयेद् गगने गतिम् ॥
(विवेकमार्तण्ड १०४)

महर्षि घेरण्ड का कथन है कि प्राणायाम के साधन से आकाशगमन, रोगनिवृत्ति तथा कुण्डलिनी का जागरण होता है। चित्त में आनन्द उत्पन्न होता है और प्राणायाम का अभ्यास करने वाला सुखी होता है। प्राणायाम से उन्मनी सिद्ध होती है।

प्राणायामात् खेचरत्वं प्राणायामाद् रोगनाशनम्।
प्राणायामाद् बोधयेच्छक्ति प्राणायामान्मनोन्मनी।
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत् ॥
(घेरण्ड-संहिता ५।५६)

प्राणायाम के अभ्यास से ही अजपा गायत्री सिद्ध होती है, साधक आकाश-चक्र में शिव का साक्षात्कार करता है।

प्रत्याहारमिति चैतन्यतुरङ्गाणां प्रत्याहरणं विकारग्रसन उत्पन्नविकारस्यापि निवृत्तिर्निर्भातीति प्रत्याहार लक्षणम् ॥३६॥

प्रत्याहार का वर्णन किया जाता है। चैतन्य आत्मा के इन्द्रियरूपी घोड़ों के (उनके शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि में) प्रत्याहरण से उनके विकारग्रस्त होने से उत्पन्न विकारों की समाप्ति हो जाती है—यही प्रत्याहार का लक्षण है॥ ३६ ॥

विशेष—प्रत्याहार के सम्बन्ध में हमारे औपनिषद वाङ्मय तथा योग-शास्त्रों में विशद विवेचन उपलब्ध होता है। महायोगी गोरखनाथ ने इन्द्रियों को तुरंग माना हैं, इसी तरह उपनिषदों में इन्द्रियों को तुरंग (घोड़ों) के रूप में

परिलक्षित किया गया है। यम ने नचिकेता को समझाया है कि शरीर में जीवात्मा रथ का स्वामी (रथी) है, शरीर ही रथ है, बुद्धि इस रथ का सारथी है, मन लगाम है, ज्ञानियों ने इन्द्रियों को घोड़े कहा है, विषय उन घोड़ों के विचरने का मार्ग है, शरीर, इन्द्रिय और मन के साथ चैतन्य जीवात्मा रहता है। जो सदा विवेकहीन बुद्धिवाला और चंचल मन से रहता है, उसकी इन्द्रियाँ असावधान सारथी के दुष्ट घोड़ों की भाँति वश में न रहनेवाली हो जाती हैं। जो सदा विवेकयुक्त बुद्धि तथा वश में किये हुए स्थिर मन से सम्पन्न है, उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथी के अच्छे घोड़ों की तरह वश में रहती हैं।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥
(कठोपनिषद् १।३।३-६)

गोरखनाथजी ने इन्हीं घोड़े के समान इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहारित कर आत्ममुखी करने पर बल दिया है। श्रीगीता में भी कहा गया है कि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषय से निगृहीत हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है।

तस्माद्यस्य महाबाहो! निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गीता २।६८)

इन्द्रियों को उनके विषयों से मोड़कर आत्मचिन्तन में मन के साथ जोड़ देना प्रत्याहार की सिद्धि है। इन्द्रियों का राजा मन है। इसी लिये मन को प्रत्याहारित करने पर भी गोरखनाथजी ने बल दिया है। सावधानी की बात यही है कि इसे पीठ की ओर (अ-पूठौ), पीछे जहाँ से इसकी चंचलता आरम्भ होती है, वापस ले जाना चाहिये, मकड़ी के तार की तरह वापस ले जाना चाहिये। जिस तरह मकड़ी तार (जाल) से बाहर निकलने पर उसी में वापस

जाने में सुरक्षा समझती है, इसी तरह मन का धर्म स्थैर्य्य है, स्थिरता ही उसकी सुरक्षा है। यह इन्द्रियरूपी घोड़ों के लिये प्रग्रह--लगाम है।

मन मकड़ी का ताग ज्यूं उलटि अपूठी आंणि।
(गोरखवानी सबदी २३४)

प्रत्याहार इन्द्रियविजय का महान् साधन है। अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर योगसाधक की इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं।

स्वविषयसम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।
(पातञ्जलयोगदर्शन २। ५४-५५)

इन्द्रियों की वश्यता, प्राण और मन की स्थिरता पर निर्भर है। हठयोग की साधना में स्पष्ट निर्देश है कि शरीर में प्राण की स्थिरता से ही मन स्थिर होता है, इसलिये प्राणसाधना इन्द्रियों के प्रत्याहार की दिशा में आवश्यक है। प्रत्याहार की सिद्धि से काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह आदि छः शत्रुओं का नाश हो जाता है। जहाँ-जहाँ मन जाता है, उसे वहाँ-वहाँ से लौटा कर आत्मा के वश में करना चाहिये, यही प्रत्याहार है। महर्षि घेरण्ड की दृष्टि में :

यतो यतो मनश्चरति चाञ्चल्यवशतः सदा।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(घेरण्डसंहिता ४। २)

रेचक-पूरक-कुम्भक, त्रयक्रमपूर्वक बारह बार प्राणायाम कर वायु को शरीर के भीतर स्थिर करने से मन स्थिर होता है और प्राणायाम के द्वारा इस तरह इन्द्रियों का प्रत्याहार हो जाता है।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
(विवेकमार्तण्ड ११७)

शिवसंहिता में प्रत्याहार के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है कि जब योग-साधक एक प्रहर तक वायु-धारण की शक्ति प्राप्त करता है, तब प्रत्याहार होता है। योगसाधक को जिस-जिस पदार्थ की जानकारी हो, उसमें उसे आत्मभाव

करना चाहिये । जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का बोध होता हो, उसी में आत्मभाव करने से इन्द्रियजय होना ही प्रत्याहार है ।

यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत् ।
यैरिन्द्रियैर्यद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत् ॥
(शिवसंहिता ३ । ६८)

प्रत्याहार की सिद्धि ही धारणा, ध्यान और समाधि में आत्मसाक्षात्कार अथवा परमात्म पद में स्वरूपावस्थान का सोपान है ।

धारणेति सा बाह्याभ्यन्तर एकमेवनिजतत्वस्वरूपमेवान्तः करणेन साधयेद् यथा यद्यदुत्पद्यते तत्तन्निराकारे धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव संधारयेदिति धारणा-लक्षणम् ॥ ३७ ॥

(धारणा अष्टांगयोग का छठा अंग है, इसका निरूपण किया जाता है ।) शरीर से बाहर-भीतर एक ही निज तत्वस्वरूप (आत्मा) व्याप्त है, अन्तःकरण से इस तरह की भावना ही धारणा है । जो-जो भौतिक प्रपञ्च उत्पन्न होता है, उसकी निराकार आत्मा रूप में धारणा करनी चाहिये और वायुरहित दीपक के निश्चल प्रकाश के समान (प्रपञ्चातीत) आत्मचैतन्य का ही चिन्तन करना चाहिये । यही धारणा का लक्षण है ॥ ३७ ॥

विशेष—धारणा, ध्यान और समाधि—अष्टांगयोग के तीन अंग स्वरूपा-वस्थान के यथाक्रम परस्पर सम्बद्ध-अन्योन्याश्रित सोपान हैं, पर इनमें से किसी एक के भी आश्रय से स्वरूप-प्राप्ति होती है—ऐसा भी कहा जा सकता है । पाँच तत्व—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की धारणा के सम्बन्ध में हठयोगशास्त्रों में विशद विवेचन किया गया है । पृथ्वी तत्व की धारणा का वर्णन है कि जिस साधक को भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश की धारणा हो जाती हैं, उसका चित्त निश्चल हो जाता है ।

या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा तत्त्वं लकारान्वितं
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदिस्थायिनी ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये

देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद् भुवो धारणा ।
अर्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्त्वं स्थितं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये
देषा दुःसहकालकूटजरणी स्यादम्ववी धारणा ॥
यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणंज्वल-
त्तेजोरेफयुक्तं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्सङ्गतम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा विदधती वैश्वानरी धारणा ॥
यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरन्तरे
तत्त्वं वायुमयंयकारसहितं तत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खेगमनं करोति यमिनां वै वायवी धारणा ।
आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद् ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ।
(विवेकमार्तण्ड १५८–१६२)

यह हरिताल स्वर्ण के समान रुचिर है, यह 'ल' कार बीज से युक्त है, इसके अधिष्ठातृ देवता ब्रह्मा हैं, यह चौकोर है, हृदय में स्थित है, मनसहित प्राण को इसमें लीन कर लेना ही पृथ्वीतत्व की धारणा है, इसका पाँच घड़ी (दो घंटे) तक अभ्यास करना चाहिये, इसके प्रभाव से पृथ्वीतत्व वश में हो जाता है । (इस धारणा के प्रभाव से साधक मृत्यु को वश में कर लेता है ।) जलतत्व अर्धचन्द्राकार कुन्द पुष्प के समान श्वेत है, यह कण्ठ में अमृतरूप वकार बीजयुक्त के समान स्थित है, विष्णु इसके अधिष्ठातृ देवता हैं, इस जलतत्व की प्राण और मन का विलय कर पाँच घड़ी तक धारणा करनी चाहिये, इससे दुःसह कालकूट विष भी भस्म हो जाता है, यह वारुणी धारणा है । इस धारणा से न तो जल का भय रहता है और न जल से मृत्यु होती है । अग्नितत्व तालु में स्थित है, यह इन्द्रगोप के समान लाल, मूँगे के समान रुचिर है, यह त्रिकोण है, तेजःस्वरूप 'र' बीज से युक्त है । इसके अधिष्ठातृ देवता रुद्र हैं, चित्त को प्राण में लीन कर इस तत्व की पाँच घड़ी तक धारणा करनी चाहिये, इससे अग्नितत्व

वश में हो जाता है, यह वैश्वानरी धारणा है। वायुतत्व सुरमा के रंग का है, यह भ्रू में स्थित है, इसके अधिष्ठातृ देवता ईश्वर हैं, इसका बीज 'य' है। मन-प्राणसहित वायुतत्व की धारणा करनी चाहिये, पाँच घड़ी तक की धारणा से साधक को आकाश-गमन की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह वायवी धारणा है। आकाशतत्व स्वच्छ जल के समान निर्मल है, इसका बीज 'ह' कार है, इसके अधिष्ठात्र देवता नाथस्वरूप सदाशिव हैं, यह तत्व ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है, मन और प्राण को लय कर पाँच घड़ी तक साधक को आकाशतत्व की धारणा करनी चाहिये, यह नभोधारणा है, इसके अभ्यास के फलस्वरूप मोक्ष का बन्द दरवाजा खुल जाता है। गोरखनाथजी की सबदी (गो० बा० सबदी १६८) है कि—आकास तत सदासिव जांण) । इन पाँच महाभूतों की धारणा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

महर्षि पतञ्जलि का कथन है कि शरीर के बाहर या भीतर—कहीं एक विशेष देश (स्थान) में चित्त को ठहराना ही धारणा है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।
(योगदर्शन ३ । १)

जहाँ चित्त को लगाया जाता है, उसी ध्येय में चित्त की एकाग्रता ध्यान है और जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा अथवा तदाकार हो जाता है, तब वही समाधि है। इन तीनों धारणा, ध्यान और समाधि को महर्षि पतञ्जलि ने संयम कहा है। ये तीनों अन्तरंग साधन हैं। पञ्च भूततत्व की वश्यता के सम्बन्ध में योगदर्शन में कहा गया है :

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।
(योगदर्शन ३ । ४४)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पाँच भूत हैं। इनमें प्रत्येक की पाँच अवस्था होती है। पहली स्थूलावस्था है। इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनकी स्थूलावस्था है। दूसरी स्वरूपावस्था है। पृथ्वी की मूर्ति, जल का गीलापन, अग्नि की उष्णता और प्रकाश, वायु की गति और कम्पन, आकाश का अवकाश स्वरूपावस्था है। तीसरी सूक्ष्मावस्था है। कारण-अवस्था या तन्मात्रा ही सूक्ष्मावस्था है। पृथ्वी की गन्ध तन्मात्रा, जल

की रसतन्मात्रा, अग्नि की रूपतन्मात्रा, वायु की स्पर्श तन्मात्रा और आकाश की शब्दतन्मात्रा ही सूक्ष्मावस्था है। चौथी अन्वय–अवस्था है। पाँचों भूतों में तीनों गुणों के स्वभाव (प्रकाश, क्रिया और स्थिति) की व्याप्ति ही अन्वय-अवस्था है। पाँचवीं अर्थवत्व–अवस्था का तात्पर्य है कि पाँचों भूत पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये हैं। इन भूतों की प्रत्येक अवस्था के क्रम से सम्पूर्ण अवस्थाओं में संयम कर जब योगसाधक इन को प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उसका इन भूतों पर–तत्वों पर अधिकार हो जाता है।

अथ ध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूपमेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यानलक्षणम् ।। ३८ ।।

(अष्टांगयोग के सातवें अंग) ध्यान का वर्णन किया जाता है। (नाम-रूप से परे) अद्वैतस्वरूप परमात्मा है, यही आत्मा है। जो-जो वस्तु प्रतीत हो, उस में आत्मस्वरूप की ही भावना करनी चाहिये, समस्त भूतमात्र में समदृष्टि—आत्मदृष्टि अथवा आत्मस्वरूप की (सभी प्राणियों में एकमात्र परमात्मा की व्याप्ति की) भावना ही ध्यान है। यही ध्यान का लक्षण है ।। ३८ ।।

विशेष—महायोगी गोरखनाथजी ने अष्टांगयोग के सातवें अंग ध्यान की सार्थकता के लिये निराकार आत्मस्वरूप में तथा सम्पूर्ण चैतन्य—परमात्मा की अभिव्यक्ति में समदृष्टि को बड़ा महत्व दिया है। अपनी एक संक्षिप्त रचना में उन्होंने कहा है कि एकमात्र ध्येय—ध्यान का विषय निरञ्जन है, निरञ्जन के उपरान्त ध्यान के लिये रह ही क्या जाता है :

निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं।
(गोरखबानी–सिष्टपुराण)

गोरखनाथजी का कथन है कि ध्यान दर्शन है, चैतन्य तत्व का सर्वत्र अनुभव ही दर्शन अथवा ध्यान है। साधक आज्ञाचक्र में स्थित दोनों भ्रू के मध्य में प्रदीप्त ज्ञानदीप्ति-–ज्ञाननेत्र अथवा शिवनेत्र की ज्योति से समृद्ध होकर दर्शन की सीमा में—ध्यान की दशा में अलखनिरञ्जन-–परमेश्वर शिव में प्रतिष्ठित हो जाता है।

दरसण माहीं आपै आप ।।
(गोरखबानी सबदी २७२)

महर्षि पतञ्जलि की दृष्टि में जिस ध्येय वस्तु में चित्त लगाया जाय, उसी में उसका एकाग्र हो जाना, ध्येय मात्र की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना, किसी दूसरी वृत्ति का बीच में न उठना ध्यान है ।

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।'
(योगदर्शन ३ । २)

ध्यान का विशिष्ट उपक्रम आत्मा में चित्तवृत्ति का लय होना है । सहस्रार कमल का ज्ञान प्राप्त होने पर साधक की चित्तवृत्ति लय को प्राप्त हो जाती है। योगी की चित्तवृत्ति जब लय को प्राप्त होती है, तब अखण्ड ज्ञानस्वरूप निरंजन आत्मा का प्रकाश होता है । ब्रह्माण्ड में अपने (आत्मचैतन्य) प्रतीक का ध्यान करना चाहिये, जब ध्यान में चित्त स्थिरता को प्राप्त हो जाय, तब उसमें महत् शून्य का चिन्तन करना चाहिये । आदि, मध्य और अन्तरूप शून्य में करोड़ों सूर्य के समान प्रभावाले और करोड़ों चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाशवाले शून्य रूप आत्मा के दर्शन (ध्यान) का अभ्यास करने वाले साधक को सिद्धि प्राप्त होती है ।

चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद् ध्रुवम् ।
तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ।।
ब्रह्माण्डबाह्ये संचिन्त्य स्वप्रतीकं यथोदितम् ।
तमावेश्य महच्छून्यं चिन्तयेदविरोधतः ।।
आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात् ।।
(शिवसंहिता ५ । १९५-१९७)

इस प्रकार का ध्यान बड़ा उपयोगी होता है और साधक का मन अथवा चित्त जब वृत्तिहीन हो जाता है, तब वह पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर आत्मस्वरूप में स्थित होता है ।

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ।।
(शिवसंहिता ५ । २०६)

महर्षि घेरण्ड ने ध्यान के तीन भेद बताये हैं। पहला स्थूल ध्यान है, दूसरा ज्योतिर्ध्यान है और तीसरा सूक्ष्मध्यान है। जिस ध्यान में मूर्ति, इष्टदेव अथवा गुरु का चिन्तन हो, वह स्थूल ध्यान है, जिसमें तेजोमय ब्रह्म या शक्ति की भावना हो वह ज्योतिर्ध्यान है, जिसमें बिन्दुमय ब्रह्मकुण्डलिनी का ध्यान हो, वह सूक्ष्म ध्यान है।

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
सूक्ष्मं विन्दुमयं ब्रह्मकुण्डली परदेवता ॥
(घेरण्डसंहिता ६ । १)

भ्रूमध्य में और मन के ऊर्ध्व भाग में ॐकारमय शिखामालायुक्त ज्योति का ध्यान ही ज्योतिर्ध्यान अथवा तेजो ध्यान है। शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास द्वारा कुण्डलिनी महाशक्ति का ध्यान सूक्ष्म ध्यान है।

महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि योगी के हृदय में विद्यमान आत्मवस्तु का निश्चल चिन्तन ही ध्यान है। सगुण ध्यान, निर्गुण ध्यान के रूप में ध्यान के दो प्रकार हैं।

सर्वं चिन्तासमावर्ति योगिनो हृदि वर्तते।
या तत्वे निश्चला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ॥
द्विधा भवति तद्धयानं सगुणं निर्गुणं तथा।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं विदुः॥
(विवेकमार्तण्ड १६५–१६६)

गुणमात्रोपलक्षित वर्णपद सगुण ध्यान का विषय है। शुद्धचैतन्यविषयक ध्यान निगुर्ण ध्यान है। निर्गुण ध्यान का फल समाधि है।

निगुंणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्।
(योगतत्वोपनिषद्)

ध्यानयोग के द्वारा साधक आत्मसाक्षात्कार में समर्थ होता है। साधक को भावना करनी चाहिये कि—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥
(श्वेताश्वतर० ६।१९)

मैं कलाओं से रहित, क्रियारहित, शान्त, निर्विकार, निरञ्जन, अमृत के परमसेतु, जले इन्धन से युक्त अग्नि की भाँति ज्योति:स्वरूप परमात्मा का चिन्तन करता हूँ। यही योगसाधक के लिये निराकार आत्मस्वरूप के ध्यान का गोरखनाथ जी द्वारा भी निर्दिष्ट क्रम है।

अथ समाधिलक्षणं सर्वतत्त्वानां समावस्था निरुद्यमत्त्व मनायासस्थितिमत्त्वमिति समाधिलक्षणम्। इत्यष्टाङ्गयोग-लक्षणम् ॥ ३९ ॥

समाधि के लक्षण का निरूपण किया जाता है। समस्त तत्वों की समावस्था-गत अनायास, स्वाभाविक (सहज) स्थिति ही समाधि का लक्षण है। (इस वर्णन में समाधिसिद्धि राजयोग परिलक्षित है।) इस तरह अष्टांगयोग के लक्षण का निरूपण—वर्णन किया गया ॥ ३९ ॥

विशेष—समस्त तत्वों की समावस्था का आशय है तत्वों की अभेदरूपता—आत्मस्वरूप में विद्यमानता। इस समावस्था में सहज प्रतिष्ठा ही समाधि (राजयोग) की सिद्धि है। यही उन्मनी अथवा सहजावस्था है। समाधि के दो रूप हैं—पहला सविकल्प (सबीज अथवा सम्प्रज्ञात) समाधि है; दूसरा निर्विकल्प (निर्बीज अथवा असम्प्रज्ञात) समाधि है। जब तक ध्याता, ध्येय और ध्यान—इन तीनों का साधक को प्रतिभास होता है, तब तक सम्प्रज्ञात समाधि है और ध्याता और ध्यान ध्येय में समाहित—आकारित हो जाते हैं, तब निर्विकल्प समाधि की अवस्था समझनी चाहिये। इस समाधि की सिद्धि होने पर योगी को बिना परिश्रम के ही सहज रूप से जाग्रत् अवस्था में भी समाधि लगी रहती है, सर्वत्र उसकी चित्तवृत्ति आत्माकारित हो उठती है,। उन्मनी समाधि के परे की अवस्था शून्य है, योगसिद्ध पुरुष को स्वरूप में स्थिति का फल शून्य समाधि है। शून्य समाधि में परिचय (आत्मस्वरूप ज्ञान अथवा स्वरूपबोध) से अटल पद—शाश्वत सनातन पद में स्थैर्य्य की प्राप्ति होती है।

सुंनि कै परचै भया सथोर। निश्चल जोगी गहर गंभीर।।
(गोरखबानी सबदी २३१)

महर्षि पतञ्जलि ने समाधि के स्वरूप का वर्णन किया है कि जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निजस्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब यह ध्यान ही समाधि हो जाता है।

तदेवार्थ· ात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
(योगदर्शन ३ । ३)

महाराजा भोज ने योगदर्शन के उपर्युक्त सूत्र के भाष्य में समाधि का लक्षण बताया है कि जिसमें मन विक्षेपों को हटाकर यथार्थता से धारण किया जाता है--एकाग्र किया जाता है, वही समाधि है।

'सम्यगाधीयत एकाग्रो क्रियते, विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।'
(भोजवृति ३ । ३)

समाधि में ब्रह्म अपने साकार रूप में—ध्येय रूप में प्रतिभासित होता है और निराकार रूप में (निर्बीज समाधि में) ज्योतिस्वरूप अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित होता है। यह ब्रह्मपद मन-वचनसापेक्ष नहीं है, साधन की सिद्धि से अमल ज्ञानरूप में स्वयं स्फुरित (प्रकाशित) होता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद् ध्रुवम्।।
(शिवसंहिता ५ । २१६)

महर्षि घेरण्ड का कथन है कि कुम्भक की सिद्धि के द्वारा मन को आत्मा के स्वरूपभूत करना चाहिये, इस तरह परमात्मा के योग से समाधि राजयोग-समाधि है।

परात्मनः समायोगात् समाधि समवाप्नुयात्।।
(घेरण्डसंहिता ७ । १६)

हठयोगप्रदीपिका में उल्लेख है कि योगी जाग्रत्, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं से रहित और समस्त चिन्ताओं से परे होकर शव के समान शरीर धारण करता है, ब्रह्मरन्ध्र में प्राण लीन कर लेता है, वह निस्सन्देह मुक्त है।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ।
मृतवत् तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥
(हठयोग प्र० ४ । १०७)

महायोगी गोरखनाथजी ने विवेकमार्तण्ड में कहा है कि जब जीवात्मा और परमात्मा का समत्व—ऐक्य स्थापित हो जाता है, तो वही समाधि है। संकल्प शून्यता की स्थिति प्रत्यक्ष हो जाती है।

यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
समस्तनष्टसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥
(विवेकमार्तण्ड १९६)

निरालम्ब, निराकार, निरामय, निराधार परब्रह्म में—अलखनिरञ्जन परमेश्वर में योगाभ्यास के फलस्वरूप योगी स्वस्थ हो जाता है। यही अष्टांगयोग की महती प्रतिष्ठा अथवा सिद्धि है। गीता के छठें अध्याय के दसवें श्लोक से २९वें श्लोक तक अष्टांगयोग की साधना का ही वर्णन यथाक्रम उपलब्ध होता है। गीता में वर्णन है कि मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखनेवाला, आशारहित, संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित होकर आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाये।...... अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस समय परमात्मा में अच्छी तरह स्थित हो जाता है, उस समय सम्पूर्ण भोगों में स्पृहारहित साधक योगयुक्त हो जाता है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्तः आसीत मत्परः ॥
(गीता ६ । ११-१४)

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ योगी उपरति को प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता ६ । २९)

सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योगयुक्त आत्मावाला तथा सर्वात्मदर्शी योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है। महायोगी गोरखनाथ ने यमनियमासनप्राणायाम-प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियुक्त योगसाधना के द्वारा अलख निरञ्जन परमेश्वर की अभिव्यक्ति—सर्वत्र परिव्याप्ति का अनुभव ही श्रेयस्कर स्वीकार किया है द्वैताद्वैतविवर्जित स्वसंवेद्य परमतत्व की रसानुभूति ही योगकल्पतरु का सिद्ध (परिपक्व) फल है।

इतिशिवगोरक्षरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ द्वितीयोपदेशः ।

तीसरा उपदेश

[पिण्डसंवित्ति]

पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति स योगी पिण्डसंवित्ति-र्भवति ।। १ ।।

(पिण्डविचार के उपरान्त उसके फलस्वरूप पिण्डज्ञान का उपदेश किया जाता है । यद्यपि हाडमांसरक्तमज्जामेदादि से गठित व्यष्टिपिण्ड प्रत्यक्ष है और इस सम्बन्ध में इसका निरूपण असंगत–सा है तथापि इसमें चराचर समस्त ब्रह्माण्ड परिव्याप्त है, इसलिये पिण्डज्ञान-निरूपण का फल है पिण्ड में व्याप्त समस्त ब्रह्माण्ड की परिचयप्राप्ति जो योगी इस पिण्ड में चर, अचर, समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त करता है, वह पिण्डसंवित्ति (पिण्डज्ञानी) हो जाता है । योगी पिण्ड (समष्टि-व्यष्टि पिण्ड) का ज्ञानी हो जाता है ।। १ ।।

विशेष—व्यष्टि पिण्ड (शरीर में अस्मदादि अन्तःकरणाभिमानी जीव (–आत्मा) है और समष्टि पिण्ड में विराट् हिरण्यगर्भादि (परमात्मा) परिव्याप्त हैं । समष्टिपिण्ड व्यापक, अधिक शक्तिशाली है, सर्वेश्वर सत्यसंकल्प होने से अस्मदादि शरीरों का कारण और नियन्ता है, व्यष्टि पिण्ड (शरीर) विनाशी है, क्षणभंगुर है, उसका अभिमानी जीव कर्मपाश से आबद्ध है । योग-साधक ब्रह्माण्डगत कार्य-व्यवहार का ज्ञान अपने व्यष्टि पिण्ड में प्राप्त कर, कर्मपाश से मुक्त होकर परमशान्त और सच्चिदानन्दरूप आदिनाथ, अलख निरञ्जन परमेश्वर के स्वरूप का बोध प्राप्त कर तदाकार हो जाता है ।

सप्त पाताल तथा अनेक लोकादि

कूर्म. पादतले वसति पातालं पादाङ्गुष्ठे तलातलमङ्गुष्ठाग्रे महातल पादपृष्ठे रसातल गुल्फ सुतलं जङ्घायां वितलं जान्वोर-तलमूर्वोरिव सप्तपातालं रुद्रदेवाधिपत्ये तिष्ठति पिण्डमध्ये क्रोध-रूपी भावः स एव कालाग्निरुद्रः ।। २ ।।

कूर्म पैर के नीचे (पादतल में) व्यष्टि शरीर के आश्रय के रूप में स्थित है (जिस तरह कूर्म––शिवशक्ति की आत्माभिव्यक्ति का एक रूप ब्रह्माण्ड-शरीर का आश्रय है) । नीचे के सात लोक—सप्तपाताल हमारे व्यष्टि-शरीर में स्थित हैं । पैर के अँगूठे में पाताल, अँगूठे के अग्रभाग मे तलातल, पादपृष्ठ में रसातल गट्टे (गुल्फ) में सुतल, जाँघ में वितल और जानु में अतल स्थित है ।इन सातों पाताल के अधिष्ठातृ देवता रुद्र हैं । पिण्ड में क्रोधरूपी भाव ही कालाग्निरुद्र है । रुद्र व्यष्टि पिण्ड (शरीर) में क्रोध के रूप में निवास करता है ।। २ ।।

विशेष—योगी का लक्ष्य एक आत्मा––अलख निरञ्जन, द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्मा को समस्त प्रकार के शरीरों में देखना और समस्त प्रापंचिक सत्ताओं के मौलिक आध्यात्मिक स्वरूप को पहचानना है । यही समस्त पिण्डों, प्रापंचिक सत्ताओं तथा ब्रह्माण्ड-व्यस्था का सच्चा ज्ञान है । जब योग-साधक की व्यावहारिक चेतना यथेष्ट शुद्ध और आलोकित हो जाती है, तब पूर्ण का प्रत्येक अंश में अनुभव किया जाता है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का प्रत्येक व्यष्टि-पिण्ड में अनुभव किया जाता है तथा समस्त व्यष्टि-शरीरों की मौलिक एकता स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है । जो योगसाधक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का व्यष्टि-शरीर में अनुभव करता है, वही शरीर का सच्चा ज्ञाता है । निर्वाण––परम कैवल्य पद की प्राप्ति अपने शरीर में ही प्रत्यक्ष है । उस निर्वाण-पद की खोज काया में करनी चाहिये, ऐसा गोरखनाथजी का ज्ञानोपदेश है ।

जोग जुक्त जब पाम्रो ग्यांना । काया षोजौ पद निरबाना ।।
सप्तदीप नवखंड ब्रह्मण्डा । धरती म्राकास देवा रवि चंदा ।।
तजिवा तिहुँ लोक निवासा । तहाँ निरंजन जोति प्रकासा ।।
(गोरखबानी-प्राणसंकली २–३)

अलख निरञ्जन की ज्योति, जो सप्त-दीप, नौ खण्ड, समस्त ब्रह्माण्ड, धरती, आकाश, देवताओं, रवि और चन्द्रमा तथा तीनों लोक में प्रकट है, हमारे व्यष्टि-पिण्ड में अभिव्यक्त है। समस्त पिण्ड-ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में अलख निरञ्जन ही ज्योतित है, समस्त ब्रह्माण्ड उसी की अभिव्यक्ति है।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥
(मुण्डकोपनिषद् १।६)

परमेश्वर से ही समस्त पर्वत, समुद्र उत्पन्न हैं, अनेक आकारवाली नदियाँ बह रही हैं। समस्त औषधि और रस उत्पन्न हैं। प्राणियों के हृदय में यही निरञ्जन परमेश्वर अधिष्ठित है, इसी परम तत्व की प्राप्ति ही योगसाधक का प्रतिपाद्य है। श्रीमद्भागवत पुराण के दूसरे स्कन्ध के पहले और पाँचवें अध्याय तथा पाँचवें स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय में सप्तपाताल की स्थिति आदि का विशिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। शिवसंहिता में इस देह—व्यष्टिपिण्ड को ब्रह्माण्ड कहा गया है। इसी देह में सात द्वीपों के सहित सुमेरुपर्वत, सरिता, सागर, पर्वत, क्षेत्र, नक्षत्र, ऋषि, ग्रह, सूर्य, चन्द्र आदि विद्यमान हैं।

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभोवायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते।
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः॥
(शिवसंहिता २।१–४)

तीनों लोक में जितने भी प्राणी-पदार्थ हैं, वे सभी शरीरस्थ सुमेरु—मेरुदण्ड के आश्रय में व्यवहाररत हैं।

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।
मेरुशृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥
(शिवसंहिता २ । ५)

ब्रह्माण्ड-शरीर और व्यष्टि-शरीर में कोई भेद नहीं है । जिस तरह ब्रह्माण्ड शरीर में सभी देश और सुमेरु आदि स्थित हैं, उसी तरह व्यष्टि-पिण्ड में भी सुमेरु आदि स्थित हैं ।

भूर्लोकं गुह्यस्थाने भुवर्लोकं लिङ्गस्थाने स्वर्लोकं नाभिस्थानें । एवं लोकत्रय इन्द्रो देवता पिण्डमध्ये सर्वोन्द्रियनियामकः स एवेन्द्रः ॥ ३ ॥

भूः (पृथ्वी) लोक (हमारे) व्यष्टि-शरीर के मूलाधार (गुह्यस्थान) में, भुवः लोक लिङ्ग प्रदेश में और स्वः लोक नाभिदेश में स्थित हैं । (शिव-शक्ति की एक अन्य आत्माभिव्यक्ति) इन्द्र इन तीनों लोकों का नियन्ता, शासक अथवा इन्द्र कहा गया है, यही व्यष्टि शरीर और समस्त इन्द्रियों का नियामक होने से इन्द्र ही है ॥ ३ ॥

दण्डाङ्कुरे महर्लोको दण्डकुहरे जनोलोको दण्डनाले तपो लोको मूलकमले सत्यलोक एवं लोकचतुष्टये ब्रह्मादिदेवता पिण्डमध्येऽनेकमानाभिमानस्वरूपो तिष्ठति ॥ ४ ॥

मेरुदण्ड के मूल में (प्रजापति दक्ष का वास-स्थान) महः लोक है । मेरुदण्ड के कुहर (छिद्र) में जनः लोक है, मेरुदण्डनाल में तपः लोक और मूलाधार कमल (चक्र) में सत्यलोक है । इन चारों लोकों में (शिवशक्ति की ही आत्माभिव्यक्ति) ब्रह्मादि ही अधिपति हैं और इस पिण्ड में अनेकमानाभिमानरूप ब्रह्म का ही (मेरुदण्ड में) आधिपत्य है ॥ ४ ।

विशेष—महः, जनः तपः और सत्य, ये चारों लोक व्यष्टि-शरीर में सुषुम्ना नाड़ी के उच्चतर क्षेत्रों में स्थित माने गये हैं । ज्यों-ज्यों साधक समाधि के उच्चतर स्तरों पर उठकर शरीर के अन्तरतम तत्व में गहनता से प्रवेश करता है, त्यों-त्यों वह इन उच्च—सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोकों की स्थिति का अपने शरीर के भीतर अनुभव करता है ।

विष्णुलोकः कुक्षौ तिष्ठति तत्र विष्णुर्देवता पिण्डमध्येऽनेकव्यापारको भवति । हृदये रुद्रलोकस्तत्र रुद्रो देवता पिण्डमध्य उग्रस्वरूपो तिष्ठति । वक्षःस्थल ईश्वरलोकस्तत्रेश्वरो देवता पिण्डमध्ये तृप्तिस्वरूपी तिष्ठति । कण्ठमध्ये नीलकण्ठलोकस्तत्र नीलकण्ठो देवता पिण्डमध्ये नित्यं तिष्ठति । तालुद्वारे शिवलोकस्तत्र शिवो देवता पिण्डमध्येऽनुपमस्वरूपो तिष्ठति । लम्बिकामूले भैरवलोकस्तत्र भैरवो देवता पिण्डमध्ये सर्वोत्तमस्वरूपी तिष्ठति । ललाटमध्येऽनादिलोकस्तत्रानादि देवता पिण्डमध्य आनन्द पराहंतास्वरूपी तिष्ठति । शृङ्गाटे कुललोकस्तत्रकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये आनन्दस्वरूपी तिष्ठति । शङ्खमध्ये नलिनीस्थानेऽकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति । ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्मलोकस्तत्र परब्रह्म देवता पिण्डमध्ये परिपूर्णदशा तिष्ठति । ऊर्ध्वकमले लोकस्तत्र परमेश्वरो देवता पिण्डमध्ये परापरभावस्तिष्ठति । त्रिकूटस्थाने शक्तिलोकस्तत्र पराशक्तिर्देवता पिण्डमध्येऽस्तित्वावस्था सर्वासां सर्वकर्तृत्वावस्था तिष्ठति । एवं पिण्डमध्ये सप्तपातालसहितैकविंशति ब्रह्माण्डस्थानविचारः ॥ ५ ॥

(जिस तरह ब्रह्माण्ड में विष्णुलोकादि उच्चलोक स्थित हैं, उसी तरह व्यष्टि-पिण्ड में वर्तमान इन शिवशक्तिरूप में अभिव्यक्त उच्च सूक्ष्म लोकों का साधक दर्शन कर परमात्मा का साक्षात्कार करता है ।) हमारे व्यष्टि-पिण्ड में कुक्षि (नाभि-देश —उदर) में विष्णुलोक है, वहाँ रक्षण-पोषण आदि अनेक व्यापार (कार्य) में तत्पर भगवान् विष्णु विराजमान हैं । हृदय में रुद्रलोक है, उसमें अपने उग्र रूप में संहार आदि कार्यों में तत्पर भगवान् रुद्रदेव विद्यमान हैं । हृदय से थोड़ा ऊपर वक्षःस्थल है, उसमें ईश्वरलोक है, उसमें पिण्ड के मध्य में तृप्तिस्वरूप ईश्वर देवता विराजमान हैं । कण्ठ के मध्य में नीलकण्ठ लोक है, वहाँ नीलकण्ठ (शिव) शरीर के भीतर नित्य स्थित हैं । तालुद्वार में शिवलोक

है, वहाँ अनुपमस्वरूप भगवान् शिव पिण्ड में स्थित हैं। जिह्वामूल (लम्बिका के मूल) में भैरवलोक है, वहाँ सर्वोत्तमस्वरूप भैरव देवता विराजमान हैं। ललाटदेश में अनादि लोक है, वहाँ अनादि (शिव) पिण्ड के मध्य में आनन्दमय परम अहंतारूपी विद्यमान हैं। इस देहपिण्ड में भृकुटी से कुछ ऊपर शृङ्गाट-स्थान है, उसमें कुल लोक है, वहाँ (शक्तियुक्त) कुलेश्वर (शिव) आनन्दस्वरूप विराजमान हैं। शंख नाड़ी के ऊपर मध्य में नलिनी स्थान में अकुलेशलोक है, वहाँ अभिमान-अवस्था से रहित (निर्विकार-निरञ्जन) साक्षात् परमशिव—अकुलेश्वर देवता विद्यमान हैं। ब्रह्मरन्ध्र मे परब्रह्मलोक है, वहाँ अखण्ड–अनन्त पूर्ण परब्रह्म विराजमान है। ऊर्ध्व कमल सहस्रार में परमेश्वर --परापर भाव में विद्यमान हैं। सहस्रार के (परापर लोक के) ऊपर त्रिकूट–त्रिशिखर-लोक में (शक्तिलोक में) अपने अस्तित्वस्वरूप में सर्वनियामिका और सर्वस्व कर्तृत्वरूपा पराशक्ति विराजमान है। इस तरह व्यष्टि-पिण्ड में सप्त पातालसहित इक्कीस ब्रह्माण्ड स्थान का विचार (वर्णन) किया गया ।। ५ ।।

विशेष—ये विष्णुलोकादि परमात्मा के ब्रह्माण्ड-शरीर के अन्तर्गत व्यावहारिक अस्तित्वों से विभिन्न स्तरों के रूप में स्वीकृत हैं। ये उच्चलोक सामान्य तथा असामान्य इन्द्रियानुभवों के क्षेत्रों के ऊपर हैं तथा उनमें से कुछ हमारी साधारण मानसिक और बौद्धिक धारणाओं के क्षेत्र के भी ऊपर हैं। गुरु के प्रसाद—अनुग्रह से हमारी चेतना आन्तरिक रूप से इन लोकों के स्तरों पर उठती है तथा शरीर के अन्तर्गत इन स्तरों के सत्य का स्पष्ट अनुभव प्रकाशित अथवा प्राप्त होता है।

चार वर्ण आदि

सदाचारतत्त्वे ब्राह्मणास्तिष्ठन्ति। शौर्ये क्षत्रिया व्यवसाये वैश्याः सेवाभावे शूद्राश्चतुष्षष्ठिकलास्वपि चतुष्षष्ठि वर्णाः ।। ६ ।।

सदाचार में ब्राह्मण, वीरता (शौर्य) में क्षत्रिय, व्यवसाय में वैश्य, सेवाभाव में शूद्र, चौसठ कलाओं (के व्यवहार) में चौसठ तरह के (कलाव्यवसायी) लोग स्थित रहते हैं ।। ६ ।।

विशेष—महायोगी गोरखनाथजी का कथन है कि वर्णाश्रमसम्मत आचार-विचार से सम्पन्न संयमित जीवन वाले सभी लोग योग की साधना के अधिकारी हैं और

सभी को समान रूप से स्वसंवेद्य अलखनिरञ्जन परमात्मतत्व सहज प्राप्त है। समस्त वर्ण (चारों वर्ण) परमात्मा—विराट् पुरुष के सर्वाङ्ग हैं। वेद का अनुशासन है। ब्राह्मण विराट् पुरुष के मुख से, क्षत्रिय (राजन्य) बाहु से, ऊरू से वैश्य और पद से शूद्र (सेवाभाव में तत्पर लोग) उत्पन्न हैं। प्रत्येक जीवात्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में विद्या, बुद्धि (सदाचार), वीरता, धैर्य, संतोष-सम्पन्नता और सेवाभाव से युक्त होकर परमात्म सृष्टि के संचालन में न्यूनाधिक योगदान करता है, यही इस पुरुषसूक्त के मन्त्र (ऋग्वेद १०।९०।१२) का आशय है। गीतोक्त चारों वर्ण की सृष्टि का भगवद्वचन के अनुरूप यही तात्पर्य है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
(गीता ४ । १३)

अतएव पुरुषसूक्त में ऋषि का यह मन्त्रदर्शन सर्वथा सत्य है :—

ब्राह्मणोस्यमुखमासीद् वाहूराजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्ययद्वैश्यं पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋग्वेद १० । ९० । १२)

गीता में ही श्रीकृष्ण के वचन हैं कि अन्तःकरण का निग्रह करना, इन्द्रियों का दमन करना, धर्मपालन के लिये कष्ट सहना, वाहर-भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीर को सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर, परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेदादि का अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्मतत्व का अनुभव करना ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म है। शौर्य, तेज, धैर्य, युद्ध से न भागना, दान देना और स्वामित्व, ये क्षत्रिय के कर्म हैं। खेती, गोपालन वैश्य के कर्म हैं और सेवा में तत्परता शूद्र के कर्म में परिगणित है। अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में प्रवृत्ति से सिद्धि प्राप्त होती है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यच्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८ । ४६)

जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उसकी अपने-अपने स्वाभाविक कर्म से अर्चना कर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है। विराट् पुरुष के सृष्टि-संचालन में उससे उत्पन्न प्राणी के योगदान का यही रहस्य है।

सप्त द्वीप तथा सप्त समुद्र

अथ सप्तसमुद्राः सप्तद्वीपाश्च कथ्यन्ते । मज्जाया जम्बूद्वीपोऽस्थिषु शाकद्वीपः शिरासु सूक्ष्मद्वीपश्चत्वक्षु क्रौञ्च द्वीपो रोमसु गोमय द्वीपो नखेषु श्वेतद्वीपो मांसे प्लक्षद्वीप एवं सप्तद्वीपाः ॥ ७ ॥

(जिस तरह ब्रह्माण्ड-शरीर में सात समुद्र तथा सात द्वीप स्थित हैं, उसी तरह हमारे पिण्ड (शरीर) में उनकी यथास्थान स्थिति है ।) सात समुद्रों और सातों द्वीपों का वर्णन किया जाता है । हमारे व्यष्टि-पिण्ड में मज्जा में जम्बूद्वीप, हड्डी में शाकद्वीप, प्रवाहिका नाड़ियों में सूक्ष्म द्वीप, त्वचा में क्रौंच द्वीप, रोमों में गोमय द्वीप, नखों में श्वेत द्वीप और मांस में प्लक्ष द्वीप हैं । (योगसाधक को इन सातों का ध्यान करने से शरीर में ही इनके साक्षात्कार और इनमें गति करने की शक्ति प्राप्त होती है । श्रीमद्भागवत पुराण के पञ्चम स्कन्ध के बीसवें अध्याय में इन द्वीपों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है ।) हमारे व्यष्टि-पिण्ड में यही सात द्वीपों की भावना है ॥ ७ ॥

मूत्रे क्षारसमुद्रो लालायां क्षीरसमुद्रः कफे दधिसमुद्रो मेदसि घृतसमुद्रो वसायां मधुसमुद्रो रक्ते इक्षुसमुद्रः शुक्रेऽमृत समुद्र एवं सप्तसमुद्राः ॥ ८ ॥

(जिस तरह ब्रह्माण्ड में खार (क्षार) समुद्र, क्षीर समुद्र, दधि समुद्र, घृत समुद्र, मधु समुद्र, इक्षु समुद्र और अमृत समुद्र स्थित हैं, उसी तरह हमारे शरीर के विभिन्न द्रवों में इन सातों समुद्रों की स्थिति निरूपित की जाती है ।) मूत्र में क्षार समुद्र, लार में क्षीर समुद्र, कफ में दधि समुद्र, मेद—मज्जा में घृत समुद्र चर्वी में मधु समुद्र, रक्त में इक्षु समुद्र और वीर्य—शुक्र में अमृत समुद्र की स्थिति का ध्यान करने से (शरीर में ही) इन सातों समुद्रों का साक्षात्कार करने की सामर्थ्य योगसाधक को प्राप्त हो जाती है ॥ ८ ॥

नवखण्ड

नवखण्डा नवद्वारेषु वसन्ति । भारतखण्डः कर्परखण्डः काश्मीरखण्डः श्रीखण्ड शङ्खखण्ड एकपादखण्डो गान्धार खण्डः कैवर्त्तकखण्डो महामेरुखंण्ड एवं नवखण्डाः ॥ ९ ॥

हमारे व्यष्टि-पिण्ड के नवद्वारों में नवखण्ड स्थित हैं। (जिस तरह ब्रह्माण्ड-शरीर में नौ खण्ड हैं, उसी तरह हमारे व्यष्टि-पिण्ड के नौ द्वारों में ये खण्ड विद्यमान हैं।) मूल (गुदा) द्वार में भारत खण्ड, उपस्थ (लिङ्ग छिद्र) में काश्मीर खण्ड, मुख में कर्पर खण्ड, नासिका के दाहिने रन्ध्र (छिद्र) में श्रीखण्ड और बायें रन्ध्र में शंखखण्ड, बायें नेत्र में एकपादखण्ड और दायें नेत्र में गान्धार खण्ड तथा बायें कान (के छिद्र) में कैवर्त्त खण्ड और दायें कान (के छिद्र) में महामेरु खण्ड स्थित हैं। यथास्थान इन नौ खण्डों का ध्यान करने से योगसाधक को इनका साक्षात्कार करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

अष्टकुल पर्वत

मेरुपर्वतो मेरुदण्ड तिष्ठति कैलासो ब्रह्मकपाटे वसति हिमालयः पृष्ठे मलयो वामकन्धरे मन्दरो दक्षिणकन्धरे विन्ध्याद्रिर्दक्षिणकर्णे मैनाको वामकर्णे श्रीपर्वतो ललाट एवमष्टकुलपर्वता अन्य उपपर्वताः सर्वाङ्गुलिषु वसन्ति ॥१०॥

(जिस तरह ब्रह्माण्ड में अष्टकुल पर्वत हैं, उसी तरह हमारे व्यष्टि-पिण्ड में भी उनका यथास्थान वर्णन किया जाता है।) शरीर में—मेरुदण्ड में सुमेरु पर्वत, मस्तक में कैलास पर्वत, पीठ में हिमालय पर्वत, बायें कंधे में मलय पर्वत और दायें कंधे में मन्दराचल, दायें कान में विंध्याचल, बायें कान में मैनाक पर्वत, ललाट में श्रीशैल तथा सभी अँगुलियों में अन्य उपपर्वतों (छोटे-बड़े पहाड़ों) का ध्यान करने से उनका साक्षात्कार करने में योगसाधक समर्थ होता है ॥१०॥

नौ नदी तथा अन्य उपनदियाँ

पीनसा, यमुना, गङ्गा, चन्द्रभागा, सरस्वती, पिपासा, शतरुद्रा, श्रीरात्रिर्श्रीनर्मदा एवं नवनद्यो नवनाडीषु वसन्ति। अन्य उपनद्यः कुल्योपकुल्या, द्विसप्तति सहस्रनाडीषु वसन्ति ॥ ११ ॥

(जिस तरह ब्रह्माण्ड-पिण्ड में गंगा आदि बड़ी नदियाँ तथा छोटी नदियाँ बहती हैं, उसी तरह हमारे शरीर की प्रधान नाड़ियों में गंगा आदि तथा छोटी-छोटी सूक्ष्म नाड़ियों में अन्य छोटी-पतली नदियाँ बहती हैं ।) गंगा इडा नाड़ी में, यमुना पिंगला नाड़ी में, सरस्वती सुषुम्ना में तथा पीनसा, चन्द्रभागा, पिपासा, शतरुद्रा, श्रीरात्रि और नर्मदा प्रधान नाड़ियों में प्रवाहित हैं और छोटी तथा पतली नदियाँ बहत्तर हजार शेष नाड़ियों में बहती हैं । (इन्हीं बहत्तर हजार नाड़ियों में पिंगला आदि परिगणित हैं ।) इन नदियों का यथास्थान शरीर में ध्यान करने से तथा इन पर सूक्ष्म दृष्टि एकाग्र करने से योगसाधक इनका साक्षात्कार करने में समर्थ होता है ।। ११ ।।

नक्षत्रादि

सप्तविंशति नक्षत्राणि, द्वादशराशयो, नवग्रहाः, पञ्चदश-तिथय एतेऽन्तर्वलये द्विसप्ततिसहस्र कोष्ठेषु वसन्ति । अनेक तारामण्डलमूर्मिपुञ्जे वसति । त्रयस्त्रिंशत् कोटि देवता बहुरोम-कूपेषु वसन्ति । दानवयक्षराक्षसपिशाचभूतप्रेता अस्थिसन्धिषु वसन्ति । अनेकपीठोपपीठका रोमकूपेषु वसन्ति । अन्ये पर्वता उदरलोमसु वसन्ति । गन्धर्वकिंनरकिंपुरुषा अप्सरोगणा उदरे वसन्ति । अन्ये खेचरीलीलामातरः शक्तयः उग्रदेवता वायुवेगे वसन्ति । अनेकमेघा अश्रुपाते वसन्ति अनन्तसिद्धा मतिप्रकाशे वसन्ति । चन्द्रसूर्यौ नेत्रद्वये वसतः । अनेकवृक्षलता गुल्मतृणानि जङ्घारोमकस्थाने वसन्ति । अनेककृमिकीट-पतङ्गा पुरीषे वसन्ति ।। १२ ।।

(जिस तरह ब्रह्माण्ड में नक्षत्र, ग्रह, राशि तथा किन्नर, गान्धर्वलोक आदि तथा कीट-पतंग—सभी यथास्थान हैं, उसी तरह हमारे पिण्ड-शरीर में ये सब विद्यमान हैं ।) हमारे व्यष्टि-पिण्ड में (अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपदा, रेवती) सत्ताईस नक्षत्र, बारह राशि,

(मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन), नौ ग्रह (सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु (बृहस्पति), शुक्र, शनि, राहु, केतु), पन्द्रह तिथि (प्रतिपदा आदि)—ये सब शरीरस्थ मांस-पेशियों—बहत्तर हजार कोठों में निवास करते हैं। तारामण्डल हड्डियों में अथवा भूख-प्यास रूपी ऊर्मियों में स्थित है। तैंतीस करोड़ देवता असंख्य रोम-छिद्रों में निवास करते हैं। दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत-प्रेत हड्डियों के जोड़ों में बसते हैं। अनेक पीठ-उपपीठ रोमछिद्रों में स्थित हैं। पेट के बालों में अनेक दूसरे पर्वत हैं। गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, अप्सरायें उदर में निवास करते हैं। स्वेच्छा से आकाश में विहार करने वाली उग्रदेवता लीलारूप मातृ-शक्तियाँ वायु के वेग में स्थित हैं तथा मेघ अश्रुपात में निवास करते हैं। अनन्त सिद्ध बुद्धि के प्रकाश में रहते हैं। दोनों नेत्रों में (बायें में) चन्द्रमा और सूर्य (दायें नेत्र में) निवास करते हैं। अनेक वृक्षलतागुल्मतृण जाँघ के रोमों में स्थित हैं। अनेक कृमि-कीट-पतंग विष्ठा में रहते हैं ॥ १२ ॥

स्वर्ग-नरक, मुक्ति

यत्सुखं तत्स्वर्गं, यद्दुःखं तन्नरकं, यत्कर्मतद्बन्धनं यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः स्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः शान्तिर्भवति। एवं सर्वदेहेषु विश्वरूपपरमेश्वरः परमात्माऽखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपो तिष्ठति। एवं पिण्डसंवित्तिर्भवति ॥ १३ ॥

युक्ताहारविहारयुक्त संयमित जीवन ही शरीर का सुख है—यही स्वर्ग (की भावना) है, असंयमित तथा आहारविहारव्यतिक्रमजन्य रोगाक्रान्त अवस्था ही दुःख है, यही नरक (की भावना) है। अपने संकल्प की पूर्ति के रूप में फल-प्राप्ति की भावना से किये गये (सकाम) कर्म ही बन्धन हैं और संकल्पशून्य इच्छारहित सहज-स्वाभाविक अवस्था ही निर्विकल्पता है, यही मुक्ति अथवा स्वरूपस्थिति एवं कैवल्य है। यद्यपि अज्ञानी की दृष्टि में निद्रादिरूपता ही स्वरूपस्थिति कही गयी है तथापि यह शुद्ध-बुद्ध आत्मबोधरूप प्रपंचातीत अवस्था ही आत्मजागृति है, इससे शान्ति प्राप्त होती है, यही जीवन्मुक्ति है। इस तरह सभी देहों में विश्वरूप परमात्मा—परमेश्वर अखण्डस्वरूप घट-घट में चिद्रूप व्याप्त है—ऐसा जाननेवाला ही पिण्डसंवित्ति योगी होता है ॥ १३ ॥

इतिश्रीगोरक्षरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ तृतीयोपदेशः ॥

卐

चौथा उपदेश

[पिण्डाधार]

अस्ति काचिदपरंपरा संवित्स्वरूपा सर्वपिण्डाधारत्वेन नित्यप्रबुद्धा निजाशक्तिः प्रसिद्धा कार्यकारणकर्तृणामुत्थान-दशाङ्कुरोन्मीलनेन कर्त्तारं करोतीत्यनन्तरावाधारशक्तिरिति कथ्यते। अत्यन्तनिजप्रकाशस्वसंवेद्यानुभवैकगम्यमाना शास्त्र-लौकिकसाक्षात्कारसाक्षिणी सा परा चिद्रूपिणी शक्तिर्गीयते। सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां निरुत्थानदशायां वर्तते तदा शिव. स एव भवति ।। १ ।।

(इस चौथे उपदेश में महायोगी गोरखनाथ ने शिवशक्ति के सामरस्य की स्थिति की प्रस्तावना निरूपित की है। निजाशक्तिसंयुक्त परासंवित् का विवेचन किया गया है। जीव का शिवशक्ति में भेदाभाव--अभिन्नता ही सामरस्य है। यही मोक्ष अथवा परमकैवल्य--स्वरूपावस्थान है। किस प्रकार यह समरसता स्थापित होती है--इसी का चौथे उपदेश में वर्णन है। यह शक्ति स्वसंवेद्य, परमशिव से अभिन्न, सम्पूर्ण स्वतन्त्र, कूटस्थ, संवित्स्वरूपा, नित्य प्रबुद्ध निजाशक्ति है। यह विनाशरहित, समस्त जगत् की आधारस्वरूपा आद्या भवानी है, यह बुद्धि आदि के अनित्य प्रकाश से भिन्न नित्य प्रकाशरूपा है, यह शक्ति शरीर आदि कार्य तथा उनके पाँच सूक्ष्म करण और जीव की अभिव्यक्तिरूपी अवस्था के अंकुर के प्रकाश से समस्त विश्व के कर्ता हिरण्यगर्भादि को भी उत्पन्न करती है। यह शक्ति शिवकी अत्यन्त अन्तरंग है, भौतिक प्रपंच की अपेक्षा

आधार कहलाती है, अनुभव से ही गम्य है, यह सबका उपादान कारण है। लोक-सम्बन्धी तथा बुद्धिवृत्ति को देखनेवाली चिद्‌रूप शक्ति ही पराशक्ति है। जब प्रलयकाल में स्वभाव से यह विकसित––उन्मीलित होती है, तब वह अपने शुद्ध रूप में शिवस्वरूपिणी हो जाती है। इस अवस्था में शिवशक्ति में सम्पूर्ण तादात्म्य रहता है ।। १ ।।

विशेष—गोरखनाथजी की योगानुभूति है कि स्वतः प्रकाशित, स्वतः सत्, स्वतः पूर्ण, अनन्त और शाश्वत चेतना, काल-दिक्-सापेक्षिता से परे परम सत्ता है। यह स्वयं को काल-दिक्-आश्रित जगत्-व्यवस्था के रूप में प्रकट करती है। स्वयं को इस व्यावहारिक-नानारूपात्मक जगत्-व्यवस्था के रूप में अभिव्यक्त करने पर भी यह चरम सत्ता अपनी पारमार्थिक एकता और पूर्णता में स्वस्थ—लीन अथवा कूटस्थ रहती है। यही परमशिवस्वपिणी परासंवित्––निजा शक्ति है।

कुलाकुलसामरस्य

अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्यनिजभूमिका निगद्यते ।। २ ।।

यह कुलाकुलस्वरूपिणी पराशक्ति कुलाकुल शिवशक्ति की अभेदावस्था ही सामरस्य-प्राप्ति की दिशा में निरूपित की जाती है ।। २ ।।

कुलशक्ति

कुलमिति परा सत्ताऽहंता स्फुरता कलास्वरूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति ।। ३ ।।

कुलशक्ति परा, सत्ता, अहंता, स्फुरता और कला, पाँच रूपों में समस्त विश्व के आधार––आश्रयरूप में अभिव्यक्त है ।। ३ ।।

अतएव परापरा निराभासावभासकान् प्रकाशस्वरूपा या सा परा ।। ४ ।।

यह कुलशक्ति समस्त विश्व के आधार के रूप में पराऽपरा––सभी वस्तुओं में विद्यमान है। यह चेतन प्रकाशस्वरूप है। अपनी सत्ता से सबकी प्रकाशिका होने से यह परा शक्ति है ।। ४ ।।

विशेष—यह शक्ति निराभासा—सूर्यादि के प्रकाश से प्रकाशित होने वाली नहीं है, स्वयं प्रकाशस्वरूपिणी है।

अनादिसंसिद्धं परमाद्वैतपरमेकमेवास्तीति याऽङ्गीकारं करोति सा सत्ता ॥ ५ ॥

(पराशक्ति—कुलशक्ति के सत्ता-स्वरूप का लक्षण कहा जाता है।) यह अनादि—सजातीय-विजातीय स्वगतभेदरहित है, संसिद्ध (स्वप्रकाश) परम अद्वैत (विजातीय भेदरहित) और एक—(सजातीयत्व से परे) है। इस तरह के अस्तित्व को स्वीकार करनेवाली सत्ता कहलाती है ॥ ५ ॥

अनादिनिधनोऽप्रमेयः स्वभावकिरणानन्दोऽहमस्मीत्यहं सूचनशीला या सा पराऽहंता ॥ ६ ॥

कुल—(अवस्था—) शक्ति अपने अहंतारूप में आदि—अन्त से रहित और अप्रमेय (इन्द्रियादि द्वारा अप्रत्यक्ष), स्वप्रकाशस्वरूप तथा सच्चिदानन्द स्वरूपिणी (शिव में सम्पूर्ण कूटस्थ) है। यह अहंतारूप में शिव से अपनी अभेदता प्रकट करती है। यह अहंतारूपी कुलशक्ति पराविद्या भी कही जाती है ॥ ६ ॥

स्वानुभवचिच्चमत्कारनिरुत्थानदशां प्रस्फुटी करोति या सा स्फुरता ॥ ७ ॥

कुलशक्ति अपने स्फुरतारूप में मन-वाणी से अगम अनुभवगम्य चैतन्य-विलास की अद्वैतावस्था (द्वैताभासरहितता) अभिव्यक्त करती है, इसी कारण यह स्फुरतारूपिणी प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपस्वयंप्रकाशत्वमाकलयतीति या सा पराकलेत्युच्यते ॥ ८ ॥

कुलअवस्था में पराशक्ति कलरूपिणी कही जाती है। आत्मा शाश्वत-सनातन, नित्य अविनाशी, (निर्विकार त्रिगुणातीत), निरञ्जन और स्वयं प्रकाश है, बोधस्वरूप, स्वसंवेद्य अनुभवैकगम्य है—इस तरह आत्मतत्व की प्रकाशिका शक्ति ही कला है ॥ ८ ॥

अकुलमिति जातिवर्णगोत्राद्यखिलनिमित्तत्वेनैकमेवास्तीति-प्रसिद्धं तथा चोक्तमुमामहेश्वरसम्वादेनिरुत्तरेऽनन्यत्वादखण्डत्वाद‌द्वयत्वादनन्यत्वान्निर्धर्मत्वादनामत्वादकुलस्यनिरुत्तरमिति ॥९॥

अनादि परब्रह्म परमेश्वर आदिनाथ निराकार, निरंजन, स्वसंवेद्य अकुल शिवमें अभिन्न पराशक्ति अकुल अवस्था में निरन्तर विद्यमान अथवा स्वरूपस्थ रहती है। इस अकुल अवस्था में जाति, वर्ण, गोत्र आदि अखिल निमित्त (व्यवहार-कारण) से रहित असंग अकुल शिव में कूटस्थ पराशक्ति ही शेष रहती है—ऐसा उमा-महेश्वरसम्वाद के रूप में रचित निरुत्तर ग्रन्थ में प्रतिपादित है। समस्त भेदोंसे परे होने के नाते यह शक्ति अखण्ड, अद्वय, अनन्य, कार्यकारणरहित, नामातीत, रूपातीत अकुल कही गयी है ॥ ९ ॥

आज्ञावती पराशक्ति

एवं कुलाकुलरूपा सामरस्यप्रकाशभूमिकास्फुटीकरण एकैवमर्था या साऽपरंपरा शक्तिरेवावशिष्यते अपरंपरं निखिलविश्वप्रपञ्चजालं परतत्त्वं सम्पादयत्येकीकरोतीत्यपराशक्तिराज्ञावती प्रसिद्धा ॥ १० ॥

इस तरह कुलाकुलरूप यह पराशक्ति सामरस्यरूप अभेदता—तादात्म्य के प्रकाश की स्थिति को स्फुटित करने में सर्वधर्मरहित अखण्ड, नित्य, अद्वय, अनन्त रूप अकुलावस्था से तत्पर रहती है। यही शक्ति अपरंपरा, निजा आदि नाम से प्रसिद्ध समस्त विश्वप्रपञ्च के आधाररूप से महाप्रलय में अवशिष्ट रहती है। यह स्थावर-जंगम सकल विश्वप्रपञ्चजालको परमेश्वररूप परमतत्व में सम्पादित कर एक कर देती है, यही अपरंपरा नामवाली शक्ति है। यह परमेश्वर आदिनाथ की आज्ञावती (आज्ञाकारिणी—स्वरूपप्रकाशिका) शक्ति कही जाती है ॥ १० ॥

अकुलंकुलमाधत्ते कुलश्चाकुलमिच्छति जलबुद्‌बुद्वन्न्यायादेकाकारः परः शिवः ॥ ११ ॥

(भाव, अभाव, शून्य-अशून्य द्वैत-अद्वैत, सृष्टिसृजनलयात्मक विश्वप्रपञ्च आदि समस्त स्थावर-जंगम में एकमात्र परमात्मा—परमेश्वर शिव ही कुल-अकुल रूप में अभिव्यक्त हैं । शिव से अभिन्न शक्ति ही महाप्रलय में अकुला-वस्थायुक्त कहलाती है। उस समय नामरूपात्मक विश्वप्रचंका उपसंहार कर परमतत्व शिव में अभिन्न हो उठती है। सृष्टि का समय आने पर यही निजा शक्ति प्राणियोंके कर्म के साथ युक्त होकर परा-अपरा-सूक्ष्म आदि भेद से कुलरूप व्यक्त अवस्था धारण करती है । विश्वका सृजन करती है, इस अवस्था में यह कुल कहलाती है । वह एकमात्र परमतत्व शिव की आकृति है—न वह द्वैत (कुल) है, न वह अद्वैत (अकुल) है । जिस तरह जल के बुलबुले जलस्वरूप ही हैं, उसी न्याय से कुल-अकुल शक्ति . शिव है । द्वैत-अद्वैत से रहित यह अभेद ही सामरस्य है ॥ ११ ॥

विशेष: —यह परा शक्ति प्रापंचिक द्वैतताओंका आधार, कारण और पोषक है, यही अपने मूल स्वत: प्रकाश शिवके पारमार्थिक स्वरूप में विराजने पर शिव में तादात्म्य में प्रतिष्ठित अथवा अभिव्यक्त हो उठती है । इस तरह यह पराशक्ति शिव के व्यक्त (कुल) और (अकुल) अव्यक्त स्वरूपोंका का सामरस्य प्रतिपादित करती है । यह पराशक्ति ही निजा शक्ति है । कुलरूप में अकुल, मुक्त रूप से स्वयं को प्रापंचिक स्तर पर अभिव्यक्त कर स्वनिर्मित सीमाओं में आनन्द—विहार करता है और अपने अकुल रूप में वह शाश्वत, सत्-आनन्दमय, अभिन्न पारमार्थिक आत्मारूप में प्रकाशित रहता है । लौकिक—प्रापंचिक आत्मा-भिव्यक्तिमे निर्लिप्त और परे होता है । यह निजा शक्ति शिवकी पारमार्थिक एवं सक्रिय रूप में अभेदता-समरसता स्थापित करती है ।

अतएवैकाकारोऽनन्तशक्तिमान् निजानन्दतयावस्थितोऽपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेव भजतीति व्यवहारः। अलुप्तशक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन्पुनः स्वेनैव रूपेण एकएवावशिष्यते ॥ १२ ॥

अनन्त शक्तिमान्

अतएव द्वैत-अद्वैत रूप में एकाकार परब्रह्म परमेश्वर (समरसता के फलस्वरूप) अनन्त शक्तिमान्, परिपूर्ण रूप से अखण्डानन्दस्वरूप अनेक रूपों में

(मायिक दृष्टि से भासमान) स्वाश्रय में अभिव्यक्त है, यद्यपि लोक-व्यवहार की दृष्टि से वह अनेक रूपों में प्रतीत होता है, तथापि वही सब का आधार है। शिव और शक्ति का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है। उससे शक्ति के तादात्म्य का कभी लोप ही नहीं है। जड़-चेतन-स्थावर, जंगमादि समस्त संसाररूप से भी वह समुद्र के फेन, तरंगादि के समान व्यावहारिक प्रपंचावस्था से भासमान होता है और फिर अन्त में वही परमेश्वर निज व्यापक, चिद्रूप, अखण्ड स्वरूप में अवशेष (पूर्ण) रहता है ॥ १२ ॥

विशेष—अपनी अनन्त शक्ति से युक्त शिव तात्विक रूप में अपने पूर्ण आनन्दमय, अभेद, अपरिवर्तनीय स्वरूप में रहते हुए भी विलासरूप में अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करते हैं और भोगते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में वे भोक्ता और भोग्य, स्रष्टा और सृष्टि, आधार और आधेय, आत्मा और उसकी अभिव्यक्ति आदि दोहरे रूप में भासित होते हैं। न तो वे शक्ति का कभी त्याग करते हैं और न शक्ति उनका त्याग करती है। अलुप्त शक्तिमान् और नित्य कहलाने का स्वारस्य है। यद्यपि शिव शक्ति के द्वारा शाश्वत रूप से अपने आप को समस्त रूपाकारों में व्यक्त करते हैं तथापि वे अनादि काल से आत्मस्वरूप में अद्वैत, परिवर्तनरहित, अभेदसत्ता, निराकार, निरञ्जन परमात्मा के रूप में नित्य अभिव्यक्त रहते हैं।

अतएव परमकारणं परमेश्वरः परात्परः शिवः स्वस्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोतीत्यतः शक्तिमान्, शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन। स्वशक्त्यासहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत् ॥ १३ ॥

अतएव सर्वशक्तिसम्पन्न होने से ही आदिनाथ शिव सूक्ष्म-स्थूल, समस्त भौतिक पदार्थों के परम कारण परमेश्वर हैं। वे अपने स्वरूप में परात्पर हैं, चैतन्यस्वरूप सब में व्यापक हैं, रुद्र-विष्णु आदि रूपों में अवतरित होने में समर्थ हैं। शक्तियुक्त होने पर ही शिव सर्वसमर्थ हैं, शक्तिरहित होने पर वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। अपनी निजा शक्ति से युक्त होने पर ही वे विश्व के साक्षी हैं ॥ १३ ॥

विशेष—परात्पर शिव (उच्चतम प्रापंचिक सत्ताओं एवं काल, दिक् तथा क्रिया से परे) अपनी अनन्त शक्ति के द्वारा व्यावहारिक जगत् के समस्त

स्तरों के अंतिम कारण परमेश्वर तथा सर्वद्रष्टा हो जाते हैं । उनका पारमार्थिक स्वतः प्रकाश, आत्मपूर्ण स्वरूप इस जगद्व्यवस्था से किसी भी तरह प्रभावित हुए विना ही समस्त लौकिक सत्ताओं के रूप में विभासित रहता है ।

अतएवानन्तशक्तिमान् परमेश्वरः स विश्वरूपीविश्वमयो भवतीति प्रसिद्धं सिद्धानां च परापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते । अतस्ते पिण्डसिद्धाः प्रसिद्धा सा कुण्डलिनी प्रबुद्धा अप्रबुद्धा चेति द्विधा । अप्रबुद्धेति तत्रपिण्डचेतनरूपा स्वभावेन नानाचिन्ताव्यापारोद्यमप्रपञ्चरूपा कुटिलस्वभावा कुण्डलिनी ख्याता सैव योगिनां तत्तद्विलसित विकाराणां निवारणोद्यमस्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्वगामिनी प्रसिद्धा भवति ।। १४ ।।

परापरशक्ति से युक्त परमेश्वर अनन्त शक्तिमान् कहा जाता है । वह समस्त विश्व का अधिष्ठातारूप आधार होने से विश्वरूप और विश्वमय कहा जाता है । परापरस्वरूपा शक्ति कुण्डलिनी सिद्धों के देहपिण्ड में विद्यमान है, उस कुण्डलिनीके वल अथवा प्रमाव से वे कायसिद्ध के रूप में प्रसिद्ध हैं । यह कुण्डलिनी प्रबुद्ध और अप्रवुद्ध (सुप्त)--दो प्रकार की है । यद्यपि देहपिण्ड में विद्यमान कुण्डलिनी स्वभाव से चेतनस्वरूप है, तथापि जव तक वह जगायी नहीं जाती है, तव तक वह संसारी पुरुषोंके लिये अनेक शोकमोहचिन्ताव्यापार-रूपिणी है--वन्धनकारिणी है, वही मूलाधार में कुटिल--अधोमुखी (सुप्त) रहती है, पर वही जगायी जाने पर सहस्रदल तक ऊर्ध्वगामिनी होती है तथा योगियों के मनोविकारों का निवारण करती है ।। १४ ।।

विशेष—अप्रबुद्ध और प्रबुद्ध कुण्डलिनी के स्वरूप का महायोगी गोरखनाथ ने गोरक्षशतक आदि में विस्तार से विचार किया है। अन्य योगसंहिताओं में इसका विशिष्ट निरूपण उपलब्ध होता है । गोरखनाथजी का कथन है कि मेढ्र के ऊपर और नाभि के नीचे कन्द के समान सभी नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान है। कन्द के ऊपर कुण्डलिनीशक्ति आठ प्रकार की होकर कुण्डलित आकार में सुषुम्ना में स्थित पश्चिमद्वार—ब्रह्मद्वार को अपने मुख से आच्छादित कर स्थित है। इस तरह जिस द्वार से ऊर्ध्व की ओर गति करते हुए योगसाधक द्वारा निर्मल, निर्विकार, ब्रह्मरन्ध्र—ब्रह्मस्थान में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार को रोक,

कर कुण्डलिनी शक्ति सोती है। वह वह्नियोग से जागृत होकर मन और प्राण के साथ डोर में बँधी सूई के समान ऊपर उठती है। यह भुजङ्गाकृति कुण्डलिनी, जो कमलतन्तु के समान विभासित और शुभ दीप्तियुक्त है, सुषुम्नामार्ग से वह्नि के संयोग से ऊपर उठ जाती है और जिस तरह ताली से तालाबन्द दरवाजा खोला जाता है, उसी तरह कुण्डलिनी महाशक्ति से योगी मोक्षद्वार का भेदन करता है। इस कुण्डलिनी के जागरण की विधि का वर्णन है :

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यात्वा च तत्प्रेक्षितम्।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन् प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रबोधान्नरः॥
(गोरक्षशतक ५२)

योगसाधक दोनों हाथों को एक-दूसरे से सटा कर पद्मासन में अच्छी तरह स्थित होकर वक्षःस्थल पर चिबुक को लगा कर कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए वार-वार प्राणायाम द्वारा वायु खींच कर उसे अपानवायु से मिलाकर कुम्भक द्वारा वायु को रोक कर श्वास बाहर निकालने से शक्ति के प्रबोधनद्वारा अतुल बोध प्राप्त करता है।

शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि में उपर्युक्त जागरण विधि को शक्तिचालिनी मुद्रा नाम दिया गया है।

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु।
(शिवसंहिता ४। १०७)

शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से कुण्डलिनी जाग कर ऊपर की ओर गति करती है।

आकाशादि की कुण्डलिनी से उत्पत्ति

ऊर्ध्वमिति सर्वतत्वान्यपि स्वस्वरूपमेवेत्यूर्ध्वे वर्तते अतएव सा विमर्शरूपिणि योगिनः स्वस्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा ॥ १५ ॥

आकाश आदि समस्त भौतिक पदार्थ कुण्डलिनी शक्ति से ही उत्पन्न होते हैं, (कार्यों की कारण से भिन्न सत्ता नहीं है) समस्त प्रपञ्च कुण्डलिनीस्वरूप ही

हैं, वह सभी के ऊपर विराजमान परम सत्ता होने से विमर्शरूपिणी विद्या है। योगियों को (भगवती कुण्डलिनी की साधना से) आत्मस्वरूप की प्राप्ति (अलख निरञ्जन परमात्मा का साक्षात्कार) सहज ही हो जाती है, यह बात प्रसिद्ध है ॥ १५ ॥

विशेष – हठयोगप्रदीपिका में निर्देश है कि शक्तिबोध से योगी को सहजावस्था की प्राप्ति स्वयं हो जाती है।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥
(हठयोगप्रदीपिका ४ । ११)

जीवात्मा और परमात्मा का अभेद ज्ञान ही सहज ज्ञान है। यही स्वविश्रान्तिरूप अद्वैत पद अथवा परम पद है।

मध्यशक्तिप्रबोधन

मध्यशक्तिप्रबोधेन अधःशक्तिनिकुञ्चनात्।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥ १६ ॥

(नाभिदेशस्थ मणिपुर चक्र में स्थित कुण्डलिनी मध्य शक्ति कही जाती है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी अधःशक्ति के रूप में प्रसिद्ध है। सहस्रदल में यही शक्ति ऊर्ध्व शक्ति के रूप में विराजमान होती है।) मध्य शक्ति को जगाने से और अधः शक्ति के ऊपर की ओर आकर्षण से तथा ऊर्ध्व शक्ति (कुण्डली) के निपात—संयोजन से परम पद की प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

विशेष —मूलाधार में आधार पद्म हैं, यह चार दलों वाला है। यह चक्र कुलाभिध कहलाता है, इसमें कुण्डलिनी शक्ति सर्प के समान आकृतिवाली सुप्ता अवस्था में पड़ी रहती है।

तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ॥
(शिवसंहिता ५ । ८५)

आधार कमल की कर्णिका में त्रिकोणाकार योनि– कामगिरि पीठ में अधः शक्ति कुण्डलिनी रहती है। इसको अपान वायु के निकुञ्चन—आकर्षण से ऊर्ध्व

मुख कर जगाया जाता है। ढके हुए सुषुम्ना द्वार को उद्घाटित कर यह ऊर्ध्व-मुखी होती है। नाभिचक्र—मणिपूरक में आठवलयों वाली मध्य कुण्डलिनी की स्थिति बतायी गयी है। यह बन्धत्रय—मूल, उड्डियान और जालन्धर बन्ध के अभ्यास से समुत्थित होती है। प्राण से अपान का ऐक्य स्थापित होना ऊर्ध्व शक्तिपात कहा गया है। शक्ति—कुण्डलिनी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रंथि का भेदन कर षट्चक्र से होती हुई सहस्रार में पहुँच जाती है, उस समय शून्य समाधि की स्थिति में साधक अपने स्वरूप में समाहित हो जाता है।

एकैव सा मध्योर्ध्वाधः प्रभेदेन त्रिधा भिन्ना शक्तिरभि-धीयते ॥ १७ ॥

यद्यपि कुण्डलिनी महाशक्ति स्वरूपतः एक ही है, तथापि (स्थान और सूक्ष्मस्थूल भेद से) वह अधः, मध्य और ऊर्ध्व शक्ति के रूप में तीन प्रकार की कही जाती है ॥ १७ ॥

विशेष—मूलाधार में रहनेवाली कुण्डलिनी सूक्ष्म, अबोधरूप और सबका कारण कही जाती है। नाभि में मणिपूर चक्र में स्थित कुण्डलिनी बोधरूपा कही जाती है और यही शक्ति जब ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर की ओर गति करती है, तब बोधजनक कल्याणकारिणी ऊर्ध्व शक्ति के रूप में प्रसिद्ध होती है।

बाह्येन्द्रियव्यापारनानाचिन्तामया सैवाधः शक्तिरि-त्युच्यते। अतएव योगिनस्तस्या आकुञ्चने रता यस्या आकुञ्चनं मूलाधारबन्धनात्सिद्धं स्यात् ॥ १८ ॥

बाह्य इन्द्रियजन्य कार्यों की चिन्ता का कारण अधः शक्ति—मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी है। (जब तक इसको जगाया नहीं जाता है तब तक साधक सांसारिक कार्यों की चिन्ता से ग्रस्त रहता है)। योगी मूलाधार में स्थित इस शक्ति के आकुञ्चन—संकोचन में तत्पर रहते हैं। मूलाधार बन्ध के अभ्यास (अपान और प्राण का ऐक्य स्थापित होने पर उड्डियान और जालन्धर बन्ध की सिद्धि) से यह शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर जाग जाती है और साधक को परमानन्द की प्राप्ति करा देती है ॥ १८ ॥

विशेष --साधक योनिस्थान --गुदा और मेढ़ू के मध्य भाग के स्थान को किसी भी पैर की एड़ी से दबा कर गुदा को सिकोड़े और फैलाये तथा अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे। यही मूलबन्ध है। जिससे नीचे की ओर गतिशील अपानवायु को साधक सुषुम्ना में प्रवाहित करता है अथवा ऊपर की ओर उठाता है, वही मूलबन्ध है। जिस बन्ध से प्राण उड़कर सुषुम्ना नाड़ी में पहुँच जाता है, वही उड्डियानबन्ध है। नाभि के ऊपर और नीचे उदर में पीछे की ओर इस तरह आकर्षण करे कि दोनों भाग पीठ तक—पीछे पहुँच जाय। कम-से कम इस तरह तीन बार आकर्षण करना चाहिये। कंठ (गले के विवर) को सिकोड़ कर साधक को हृदय-देश में—वक्ष के समीप चार अंगुल की दूरी पर ठोड़ी को दृढ़ता से स्थापित करना चाहिये। यही जालन्धरबन्ध है। इन तीनों बन्धों के अभ्यास से कुण्डलिनी महाशक्ति क्रमशः सहस्रार में पहुँच जाती है।

यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम् ॥ १९ ॥

जिससे चर-अचर, स्थावर-जंगम, चिद्, अचिद् समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है, वह मूलाधार है, जिसके संकोच और प्रसरण से कुण्डलिनी का प्रबोधन होने पर ज्ञान की वृद्धि होती है—यह मूलाधार ही संवित्प्रसारण-भूमि है ॥ १९ ॥

सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहृतिश्चभवत्येव न सन्देहस्तस्मात्सा मूलमित्युच्यते। अतः प्रायेण सर्वे सिद्धा मूलाधारस्ता भवन्ति ॥ २० ॥

समष्टिरूप (सर्वेश्वरी) महाशक्ति के व्यापार—कार्य से ही (संकोच और प्रसरण से ही) जगत् का सृजन और संहार होता है, इसमें संदेह नहीं है (कि योगी इस मूल शक्ति का ध्यान कर जगत् की सृष्टि और संहार कर सकता है)। यही कारण है कि मूलाधार में स्थित यह महेश्वरी शक्ति ही मूल शक्ति है। प्रायः सभी सिद्ध, यही कारण है कि मूलाधारशक्ति—कुण्डलिनी को जगाने में तत्पर रहते हैं ॥ २० ॥

तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथाभ्रमन्तमपि स्वप्रकाश मध्ये स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी

मध्याशक्तिर्गीयते स्थूलसूक्ष्मरूपेण महासिद्धानां प्रतीयत इति निश्चयः ।। २१ ।।

मध्या शक्ति (कुण्डलिनी) का वर्णन किया जाता है। यह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप है। अविद्यावश संसार-बन्धन में विषयादि मृगतृष्णा में आसक्त जीवात्मा को यह मध्या शक्ति अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में धारण करने में सदा समर्थ है। यह कुण्डलिनी स्थूल और सूक्ष्म—दो प्रकार की कही गयी है। इसकी महासिद्ध योगियोंको ही अच्छी तरह जानकारी रहती है, इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है ।। २१ ।।

विशेष—महासिद्ध योगियों को यह कुण्डलिनी मूलाधार में सूक्ष्मरूपिणी और मणिपूर चक्र में स्थूल प्रतीत होती है।

स्थूल-सूक्ष्म कुण्डलिनी

स्थूलेति निखिलग्राह्याधारविग्राह्य स्वरूपापि पदार्थान्तरे भ्राम्यमाणा चिद्रूपा या वर्तते सा कुण्डलिनी साकारास्थूला-पुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परमानन्द-तया कुण्डलिनी या निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा ।। २२ ।।

यद्यपि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी योगसिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त संसार में विषयासक्त बँधे जीवमात्र के लिये सूक्ष्म (अज्ञात) है तथापि यह शब्दात्मक स्थूल जगत् की सृष्टि करने के कारण साकार—स्थूल कही जाती है। वह रूपादि विषयों में भ्रमण—संचार करती रहती है, यही निज विस्तार-कौशल से नाभिस्थान—मणिपूर चक्र में अपने उपर्युक्त विषयसम्बन्धों को छोड़ कर अपने चैतन्यस्वरूप से योगियों को अपने आनन्ददायक व्यापक अखण्ड आत्मा का निश्चय कराती है। जागने पर यह सूक्ष्म रूप से, निराकार और सर्वत्र व्यापक रहती है। योगनिपुण महासिद्ध ही इस बात को अच्छी तरह जानते हैं ।। २२ ।।

विशेष—जो योगसाधक कुण्डली को संचालित कर लेता है, वह सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है और मृत्यु को वश में कर अपने अखण्ड परमानन्द स्वरूप में लीन हो जाता है।

सृष्टिकुण्डलिनी ख्याता द्विधा भागवती तु सा । एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यगात्मिका । अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्ति-व्यापकवर्जिता । तस्या भेदं न जानाति मोहिता प्रत्ययेन तु ॥ २३ ॥

(प्रत्येक प्राणी के मूलाधार में सूक्ष्म रूप से कुण्डलिनी विद्यमान है, वह प्रत्येक जीवात्मा में व्यापक है ।) यह भगवत्सम्बन्धवाली (भागवती) कुण्डलिनी दो प्रकार की है, यह स्थूल और सूक्ष्म है । यह स्थूल जगत् की सृष्टि करती है, इसलिये सृष्टि-कुण्डलिनी के रूप में प्रसिद्ध है । जब यह नाभिचक्र—मणिपूर में प्रबुद्ध होकर उपाधिसम्बन्ध छोड़कर अखण्ड स्वरूप में ऊर्ध्वमुखी होकर प्रतिष्ठित होती है, तब वह सर्वव्यापक, सूक्ष्म और व्याप्तिव्यापक भाव से रहित होती है । विषयप्रपञ्च में सम्मोहित प्राणी उसके सत्स्वरूप को नहीं जान पाते हैं ॥ २३ ॥

तस्मात् सूक्ष्मापरा संवित्स्वरूपा मध्या शक्ति कुण्डलिनी योगिभिर्देहसिद्ध्यर्थं सद्गुरुमुखाज्ज्ञात्वा स्वस्वरूपदशायां प्रबोधनीया ॥ २४ ॥

इसलिये सूक्ष्म चिद्रूपिणी विषयरहित मध्य कुण्डलिनीशक्ति को देहसिद्धि (मृत्यु को वश में करने) के लिये गुरु के सदुपदेश से अपनी आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये जगाना चाहिये । (गुरु की कृपा से ही उनके मुख से तत्सम्बन्धी प्रबोधन-क्रिया का ज्ञान प्राप्त कर ही योगसाधक मूलाधार में सोयी कुण्डलिनी को जगाकर सहस्रार की ओर ऊर्ध्वमुख करता है ।) यह संवित्स्वरूपा मध्य कुण्डलिनी नितान्त प्रबोधनीय है ॥ २४ ॥

अथ ऊर्ध्वशक्तिनिपातः कथ्यते सर्वेषां तत्त्वानामुपरिवर्तमानत्वान्निर्नाम परमं पदमेवमूर्ध्वप्रसिद्धं तस्याः स्वसंवेदन नानासाक्षात्कारसूचनशीलाया सोर्ध्वशक्तिरभिधीयते तस्या निपातनमिति स्वस्वरूपद्विधाभासनिरासः किन्तु स्वस्वरूपाखण्डत्वेन भवति ॥ २५ ॥

(मध्य कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रार में प्रवेश ही ऊर्ध्व-शक्तिनिपात कहा जाता है।) ऊर्ध्वशक्ति-निपात का वर्णन किया जाता है। समस्त विषयप्रपञ्च—भौतिक पदार्थों के ऊपर वर्तमान रहने की स्थिति ही ऊर्ध्व है। नाम-रूप से रहित आदिनाथ परमेश्वरस्वरूप ही परमपद है। उस अनन्त अखण्ड परमात्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति करनेवाली शक्ति ही ऊर्ध्व शक्ति (परम जाग्रत् परमेश्वरी कुण्डलिनी) कही जाती है। मूलाधार से मणिपूर चक्रादि का भेदन करती हुई महाकुण्डलिनी सहस्रार में शिव का ऐक्य प्राप्त कर 'यह, तुम, मैं' आदि के भेदभाव का अन्त कर देती है, किंतु (साथ-ही-साथ) परमात्मा और जीवात्मा के अखण्ड-अभिन्न व्यापक स्वरूप का ज्ञान करा देती है ॥ २५ ॥

शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति शक्तेराभ्यन्तरः शिवः।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ २६ ॥

(शक्ति और शक्तिमान्—स्वरूपतः दोनों एक-दूसरे में अभिन्न हैं। कूटस्थ असग शिव सर्वत्र व्यापक हैं, शिव को धारण करनेवाली शक्ति भी व्यापक है।) शिव में शक्ति है, शक्ति में शिव हैं, जिस तरह चन्द्रमा और चाँदनी में स्वरूपतः भेद—भिन्नता नहीं है, उसी तरह शिव और शक्ति में भिन्नता नहीं है। (दोनों में कूटस्थता और असंगता की दृष्टि से व्यवहार में भेद परिलक्षित होता है और पारमार्थिक सत्ता में वे स्वरूपतः अखण्ड और अभेद हैं।) शिव-शक्ति एक हैं ॥ २६ ॥

अत ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन योगिभिः परमं पदं प्राप्यत इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

अतएव योगियों द्वारा ऊर्ध्व शक्ति—भगवती कुण्डलिनी महाशक्ति के निपात से सहस्रार में पूर्ण जाग्रत् कर प्रविष्ट कराने पर परम पद की—स्वरूप-स्थिति की प्राप्ति की जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना राजते संविदेका
तत्त्वे तत्त्वे परममहिमा संविदेवावभाति।
भावे भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा
भासे भासे भजनचतुरा बृंहिता संविदेव ॥२८॥

अखण्ड शुद्ध चैतन्य सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है। यह चेतन ही समस्त विश्वप्रपंच का आधार है। प्रकृति, माया आदि तत्वों पर महिमा सहित शक्ति सर्वत्र प्रकाशित हो रही है । समस्त मानसिक व्यापारों में इसी शक्ति की सत्ता अभिव्यक्त है। आशय यह है कि सभी पदार्थों की समस्त व्यवस्थाओं के अंगों और गुणों को एकत्र करने वाला तथा सभी प्रकार की सत्ताओं की व्यवस्थाओं में संवित् ही प्रकाशमान है । वही समस्त व्यावहारिक सत्ताओं के सीमित, परिवर्तनशील तथा अनेक वस्तुरूपों में स्वयं को प्रकट कर रहा है। सभी प्रकार के मानसिक अनुभवों में स्वयं को अनेक आत्मगत रूपों में प्रकट कर कौशल से वह संवित् ही अनेक सीमित विशेषतायें धारण कर लेता है ।। २८ ।।

किमुक्तं भवति परापरविमर्शरूपिणी संविन्नानाशक्तिरूपेण निखिलपिण्डाधारत्वेन वर्त्तते इति सिद्धान्तः ।। २९ ।।

इस तरह परासंवित्स्वरूप शिवशक्ति के सामरस्य का स्पष्ट निर्णीत रूप यह है कि व्यष्टि-समष्टिभूत भौतिक समस्त पदार्थों का अनुभवरूप सच्चिदानन्दस्वरूप चेतन ब्रह्म ही निजा, परा सूक्ष्मा शक्ति-रूपों के द्वारा समस्त पिण्डोंका आधार (आश्रय) है ।। २९ ।।

इति शिवगोरक्षविरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ चतुर्थोपदेशः ।।

पाँचवां उपदेश

[पिण्डपदसामरस्य]

महासिद्धयोगिभिः पूर्वोक्तक्रमेण परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परमपदे समरसं कुर्यात् ।। १ ।।

परासंवित्स्वरूप शिव-शक्ति को नितान्त अभिन्न समझते हुए योगी को मूलाधार में सोयी कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर मध्य शक्ति के प्रबोधनपूर्वक ऊर्ध्व शक्ति का सहस्रार में निपात करना चाहिये । अपने व्यष्टि पिण्ड और सच्चिदानन्दपरमात्मस्वरूप परपिण्ड का ज्ञान प्राप्त कर परमपद परमात्मा में सामरस्य (ऐक्य) स्थापित करना चाहिये,—ऐसा करने से उन्हें परमात्म असंग शिवस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है ।। १ ।।

परमपद

परमपदमिति स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम् ।। २ ।।

(परम पद द्वैताद्वैतविवर्जित है ।) परम पद स्वानुभवैकगम्य है—स्वसंवेद्य है और स्वप्रकाशस्वरूप अभिव्यक्त है—किसी अन्य प्रकाश के माध्यम से यह बोधगम्य नहीं है ।। २ ।।

विशेष—स्वसंवेद्य परमपद का आशय यह है कि परमात्मा ही परमात्मा को जानता है अथवा जब कुण्डलिनी के पूर्ण प्रबोधन से जीवात्मा अखण्ड परमात्म-

स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, तब वह परमपद में स्वस्थ हो जाता है—यही परम-पद की स्वसंवेद्यता है ।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
(गीता १० । १५)

यह परमात्मा स्वप्रकाश से प्रकाशस्वरूप—अत्यन्त भासाभासक है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
(गीता १३ । १७)

उपनिषद् में उल्लेख है कि स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा सूर्य-चन्द्र के प्रकाश से नहीं प्रकाशित होता, सूर्य—चन्द्र का तेज उस परमप्रकाश में विलय को प्राप्त हो जाता है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् ।
(कठोपनिषद् २ । ५ । १५)

यह परमात्मपद सच्चिदानन्दस्वरूप होने से चक्षुरादिइन्द्रियातीत है ।

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति तत्त्वविन्नापराकला ।
ऊहापोहौ कर्तव्यौ, वाचा तत्र करोति किम् ।
वाग्मिनागुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्य्यते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परपदम् ।। ३ ।।

उस परम पद के सम्बन्ध में बुद्धि किसी भी तरह का निश्चय नहीं कर सकती है, न मन, जो संकल्परूप है, उसमें प्रवेश पा सकता है, उस परमपद का न तो (वाणी से) मण्डन किया जा सकता है, न स्वरूप में स्थित कराने वाली कला भी उसका निर्वचन कर सकती है, न किसी धर्म-विशेष के आश्रय में उसका खण्डन किया जा सकता है । वाग्मी (वाचस्पति) गुरु के द्वारा भी उसका तत्वतः निरूपण नहीं हो सकता है । यही कारण है कि साक्षात् शिव ने उस परम पद को स्वसंवेद्य कहा है ।। ३ ।।

विशेष—उस परम पद में चक्षुइन्द्रिय का प्रवेश नहीं है, उसमें वागिन्द्रिय की भी पहुँच नहीं है । मन (अन्तःकरण) का भी इसमें प्रवेश नहीं है । यह बतलाने से भी तो समझ में नहीं आ सकता है ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ।

(केनोपनिषद् १ । ३)

साक्षात् शिव के कथन का सन्दर्भ महायोगी गोरखनाथ ने इस परम पद के सम्बन्ध में निरूपित किया है, जिसकी पुष्टि शिवसंहिता में की गयी है ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद् ध्रुवम् ॥
(शिवसंहिता ५ । २१६)

यह पद न तो वाणी से प्राप्त हो सकता है, न मन से ही । योगाभ्यासरूपी साधन से यह निर्मल ज्ञानस्वरूप स्वयं प्रकाशित होता है ।

अतएव नानाविध विचार्यचातुर्यचर्चाविस्मयाङ्गत्वाद् गुरुचरणकृपातत्त्वमात्रेण, निरुपाधिकत्वेन निर्णेतुं शक्यत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमपदं प्रसिद्धमिति सिद्धान्तः ॥ ४ ॥

अतएव उस परम पद का वर्णन करने में अनेक प्रकार के सूक्ष्म विचारों में निपुण विद्वानों को भी विस्मित होना पड़ता है । यह परमपद तो निरुपाधिक है, प्रमाण आदि से इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, गुरु के चरण में शरणागत होने पर उनकी अहेतुकी कृपा से ही इसका ज्ञान—बोध प्राप्त हो सकता है, यह तो नितान्त निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर स्वानुभव में ही स्वयं प्रकाशस्वरूप अभिव्यक्त होता है, यह स्वसंवेद्य है । श्रुतिस्मृति में इस तरह का सिद्धान्त निर्णीत किया गया है ॥ ४ ॥

गुरु द्वारा सन्मार्गदर्शन

गुरुरत्र सम्यक्सन्मार्गसन्दर्शनशीलो भवति सन्मार्गो योगमार्गस्तदितरः पाखण्डमार्गः । तदुक्तमादिनाथेन—

योगमार्गेषु तन्त्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषकाः ।
तेहि पाखण्डिनः प्रोक्तास्तथा तैः सह वासिनः ॥ ५ ॥

परम पद की प्राप्ति में गुरु ही ठीक-ठीक सन्मार्गदर्शन कराने वाला होता है, सन्मार्ग ही योगमार्ग है (जिसके द्वारा समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर सहज समाधि में साधक को परम पद का साक्षात्कार होता है । योगमार्ग (श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित सम्यक् स्वरूपप्राप्ति-मार्ग) के अतिरिक्त दूसरा मार्ग पाखंड मार्ग है (जिस पर अनात्मवादी चलकर सन्मार्ग की निन्दा और खण्डन करता है) । आदिनाथ शिव का कथन है—जो योगमार्ग और उसके उपायभूत (सहायक) तन्त्र (दक्षिण मार्ग) में दीक्षित और गुरुमुख हैं, उनकी निन्दा करने वाले और उन (निन्दकों) के सहायक पाखण्डी हैं, क्योंकि वे सत्स्वरूप की प्राप्ति में बाधक और अनभिज्ञ हैं ।। ५ ।।

विशेष—यह योगमार्ग ही सिद्धमार्ग है, कैवल्यपद—परमपद की प्राप्ति इसी मार्ग के अनुशीलन से सम्भव है ।

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम् ।
सिद्धमार्गेण लभ्यन्ते नान्यथा शिवभाषितम् ।।
(योगबीज–८)

योग से बड़ा परमपद की प्राप्ति की दिशा में कोई दूसरा बल ही नहीं है ।

यस्मिन् दर्शिते सति तत् क्षणात् स्वसंवेद्यसाक्षात्कारः समुत्पद्यते ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते ।। ६ ।।

जिस समय (सिद्ध गुरु द्वारा) परमपद की प्राप्ति के उपायभूत योगमार्ग के उपदेश से परमात्मबोध कराया जाता है, तत्काल ही (उसी समय) स्वसंवेद्य अलख-निरञ्जन परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है । (यह निर्विवाद है कि) परमपद की प्राप्ति में गुरु (की कृपा) ही एकमात्र कारण है ।। ६ ।।

गुरु और सामरस्य

तस्माद् गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महासिद्धयोगिभिः स्वकीयपिण्डनिरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्तः ।। ७ ।।

यही कारण है कि बड़े-बड़े सिद्धयोगी गुरु के कृपाकटाक्ष और अपने (मनोनिग्रहादि योगसाधना के) अनुभव से स्वरूप-बोध में समर्थ होकर अपने व्यष्टिशरीर का निरुत्थानानुभव (व्यापक पर-पिण्ड में अभेदता) के समाश्रय में सामरस्य करते हैं—परमात्मस्वरूप परमपद की प्राप्ति के द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाते हैं—जीवात्मा-परमात्मा में पूर्ण अभेदता की प्रतिष्ठा ही यह व्यष्टि पिण्ड से परपिण्ड का सामरस्य है ॥ ७ ॥

विशेष—गुरु की वन्दना में महायोगी गोरखनाथ ने गोरक्षशतक के मांगलिक श्लोक में इसी सामरस्य को परिलक्षित किया है ।

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ॥
(गोरक्षशतक–१)

गोरखनाथ का कथन है कि मैं अपने गुरुदेव की वन्दना करता हूँ, जो साक्षात् परमानन्द हैं, जो सच्चिदानन्दस्वरूप—आनन्दविग्रह अथवा मूर्तिमान् आनन्द हैं, जिनके सान्निध्यमात्र से ही—कृपाकटाक्ष से ही यह शरीर चिदानन्द, चिन्मय, परमानन्द, परमात्मस्वरूप हो जाता है ।

निरुत्थान-प्राप्ति का उपाय

निरुत्थानप्राप्त्युपायः कथ्यते । महासिद्धयोगिनः स्वस्वरूपतथानुसन्धानेन निजावेशो भवति निजावेशान्निःपीडित निरुत्थानदशामहोदयः कश्चिज्जायते ततः सच्चिदानन्दचमत्काराद्भुताकारप्रकाशप्रबोधो जायते, प्रबोधादखिलमेतद् द्वयाद्वयप्रकटतया चैतन्यभासाभासकं परात्परपरमपदमेव प्रस्फुटं भवतीति सत्यम् ॥ ८ ॥

निरुत्थान (जीवात्मा-परमात्मा के अभिन्नत्व, एकत्वं अथवा सामरस्य) की प्राप्ति के उपाय का वर्णन किया जाता है । अभेद रूप परमपद को चाहनेवाले योगी का अपने स्वरूप के अनुसन्धान से (स्व-परपिण्ड की अभेदता के द्वारा) निजावेश होता है – वह परमेश्वर को अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित देखता है ।

स्वपिण्ड-परपिण्ड की अभेदता के अनुभव से उसे सर्वेश्वर परमात्मा के पिण्ड में आत्माभिव्यक्ति-- निजावेश होता है और इस निजावेश के परिणामस्वरूप ही निरुत्थान अथवा सामरस्य का उदय होता है, उसे स्वाभिव्यक्तिपूर्वक इसका अनुभव होता है कि यह परपिण्ड—परमात्मपिण्ड मेरा ही (व्यष्टि—) पिण्ड है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा के स्वसंवेद्य अनुभव के चमत्कार से अद्भुत प्रकाश-स्वरूप आत्मबोध होता है। इस बोध से द्वन्द्व-परमात्म पिण्ड और स्वपिण्ड में भेद भाव का अन्त हो जाता है और अखण्ड परमात्मस्वरूप परमपद प्रत्यक्ष हस्तामलक के समान प्रस्फुटित -- स्वप्रकाशित अथवा स्वाभिव्यक्त हो जाता है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है—यह सत्य है ॥ ८ ॥

अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वावधान-बलेनैक्यं भजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते ॥ ९ ॥

व्यष्टि-पिण्ड और परपिण्ड (परमात्मपिण्ड) में सामरस्य की प्राप्ति गुरु के अनुग्रह से ही होती है। सिद्धयोगियों को इसके लिये सबसे पहले गुरु के चरण में शरणागत होकर उसकी प्रसन्नता से चित्तवृत्तियों के निरोधपूर्वक स्वरूप-ध्यान और समाधि से उपासना में—योगसाधना में तत्पर होकर स्वपिण्ड से परपिण्ड पर्यन्त ऐक्य का अनुभव करना चाहिये, इस तरह की साधना से ही तत्क्षण परम-पद—द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्म पद का अनुभव होता है ॥ ९ ॥

तदनुभवबलेन स्वकीयं सिद्धं सम्यङ् निजपिण्डं ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्य तस्मिन्प्रत्यावृत्या रूढ़ैवाभ्यन्तरे स्वपिण्डसिद्ध्यर्थे महत्वमनुभूयते ॥ १० ॥

इस तरह अपने योगसाधनापरक अनुभव के प्रकाश में अपने व्यष्टिपिण्ड (परमात्मस्वरूप से अभेदता) का ज्ञान प्राप्त कर उसे परमपद में एकीकृत कर तथा उस परमपद को अपने व्यष्टि-पिण्ड में एकात्मस्वरूप कर अपने पिण्ड को सच्चिदानन्दस्वरूप में अभिव्यक्त कर परपिण्ड की उसमें अभिन्नता—अभेदता का महत्व योगी अनुभव करता है ॥ १० ॥

निजपिण्डपरीक्षा च स्वस्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव समरसकरणं भवति ॥ ११ ॥

निज पिण्डपरीक्षा (से आशय) यह है कि अपने शरीर में भी परमात्म-स्वरूपकिरणरूप आनन्द का ही विकास है और इस प्रकाश के उन्मेष को अपने ही (व्यष्टिपिण्ड के) भीतर समेट कर परमात्मा से अभिन्न अथवा अभेद अनुभव करना ही सामरस्य है ॥ ११ ॥

अतएव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमानं स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुरीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्धयर्थं तिष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ॥ १२ ॥

परमात्मप्रकाश के अपने व्यष्टि-पिण्ड में प्रत्याहरण के परिणामस्वरूप यह शरीर महाप्रकाशपुञ्जरूप में आकारित (सच्चिदानन्दस्वरूप) हो उठता है । इस तरह अपने व्यष्टि-पिण्ड में परमात्म-प्रकाश के प्रत्याहरण—सामरस्यकरण द्वारा सिद्धयोगी देहसिद्धि—चिन्मय स्वरूप—स्वानन्दविग्रह की प्राप्ति से चिरकाल तक अजर-अमर रहते हैं ॥ १२ ॥

पिण्डसिद्धि का वेष

अथ पिण्डसिद्धौ वेषः कथ्यते—

शङ्खमुद्राधारणं च केशरोमप्रधारण
ममरीपानममलं तथा मर्दनमुत्तमम् ॥ १३ ॥
एकान्तवासो दीक्षा च संध्याजपममायया ।
ज्ञानं भैरवमूर्त्तेस्तु तत्पूजा च यथाविधि ॥ १४ ॥
शङ्खध्मातं सिंहनादं कौपीनं पादुके तथा ।
अङ्गवस्त्रं बहिर्वस्त्रं कम्बलं छत्रमद्भुतम् ॥ १५ ॥
वेत्रं कमण्डलुञ्चैव भस्मना च त्रिपुण्ड्रकम् ।
कुर्यादेतान् प्रयत्नेन गुरुवन्दनपूर्वकम् ॥ १६ ॥

पिण्ड (देह)-सिद्धि हो जाने पर योगी—योगसिद्ध (परमात्मपदप्राप्त) के वेषधारण का वर्णन किया जाता है । उसे (गले और हाथ में) शंख और (दोनों कानों में) मुद्रा को धारण करना चाहिये, केश और रोम धारण करना चाहिये

तथा अमरी की क्रिया के द्वारा उसे सहस्रार से द्रवित अमृत का पान करना चाहिये, प्राणायाम और आसनों के अभ्यास से उत्पन्न पसीने का अंग में लेप करना चाहिये। एकान्तवास का सेवन करते हुए गुरु की दीक्षा के अनुरूप निर्मल चित्त से संध्या-जप आदि के अनुष्ठान में तत्पर रहना चाहिये और योगसाधना मे विघ्नों के निवारण के लिये शास्त्रविधि मे भैरव देव का पूजन करना चाहिये। शंखनाद करना चाहिये, वस्त्र के रूप में कौपीन धारण करना चाहिये, पैरों में खड़ाऊँ पहनना चाहिये तथा ओढ़ने-बिछाने के लिये कम्बल तथा पहनने के लिये अँचला अथवा धोती के रूप में वस्त्र रखना चाहिये, पानी के लिये कमण्डलु और जलवृष्टि से बचने के लिये पास में छाता रखना चाहिये। शरीर को स्नान के उपरान्त भस्म से अलंकृत कर ललाट में त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये। नित्यप्रति गुरु के चरण का ध्यान करते हुए प्रणाम समर्पित कर साधना में तत्पर रहना चाहिये ॥ १३–१६ ॥

विशेष—अमरीपान (अमरोली) के अभ्यास द्वारा शरीर में साधक वीर्य की अखण्डता सुरक्षित रखता है। हठयोग–प्रदीपिका में अमरीपान पर प्रकाश डाला गया है।

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम्।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेत् सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥
अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥

(हठयोगप्रदीपिका ३ । ९६–९८)

अधिक पित्तवाली (प्रारम्भिक) बिन्दु-धारा और सार-अंश से रहित अन्तकी धारा को छोड़कर शीतल मध्यधारा (चन्द्रामृत) का ही (इस मुद्रा में) पान किया जाता है, खण्डकापालिकमत में यही अमरोली है। साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्य पान करते हुए वज्रोली मुद्रा द्वारा वीर्य के ऊर्ध्वाकर्षण का अभ्यास करता है। यही अमरोली है। अमरोली के अभ्यास से निकलती सुधा

से अंग में लेप करने से दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। सुधा को भस्म से मिश्रित कर लेप करना चाहिये।

परमपद की प्राप्ति

तेषां पिण्डसिद्धौ सत्यां सर्वसिद्ध्य. संनिधाना भवन्ति ॥ १७ ॥

यस्मिञ्ज्ञाते जगत्सर्वसिद्धं भवति लीलया।
सिद्ध्यः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परं पदम् ॥ १८ ॥
परं पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः।
देहमूलं हि वेषः स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकः ॥ १९ ॥

इस प्रकार योगसाधना में तत्पर होने पर पिण्डसिद्धि--शरीर में ही परपिण्डस्थ परमात्मा की व्यापकता की अनुभूति होती है और इस सत्स्वरूप में समस्त अणिमादि सिद्धियाँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं ॥ १७ ॥ इस परमपद--परमात्मतत्व का बोध होने पर जगत् परमात्मस्वरूप में सहज--अनायास अभिव्यक्त हो उठता है। सिद्धियाँ बिना चाहे ही स्वतः उपस्थित हो जाती हैं। साधक को इन सिद्धियों में न उलझ कर परमपद का ही बोध प्राप्त करना चाहिये ॥ १८ ॥ यह परम पद वेष धारण करने से नहीं सिद्ध होता है। वस्तुतः वेषधारण का तात्पर्य तो यह है कि लोकमात्र को—संसार में निवास करने वाले प्राणियों को संन्यासवेष धारण के महत्व का पता चल जाय। यही कारण है कि देह को इस प्रकार वेषादि-चिह्नों से अलंकृत किया जाता है। साधनसहित वेष धारण कर परमपद का बोध प्राप्त करना चाहिये।

योगमार्ग

लोके निकृष्टमुत्कृष्टं परिगृह्य पृथक्कृतम्।
तत्स्वधर्म इति प्रोक्तो योगमार्गे विशेषतः ।.२०॥
योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ॥२१॥

लोक में ऐहिक फलजनक (सेवादि) कर्म तथा यज्ञ, दानादि उत्कृष्ट पुण्यकर्म--दोनों ही सकाम बुद्धि से किये जाते हैं और जब भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म के सम्पादन द्वारा साधक कर्मफल की लिप्सा का त्याग कर देता है, तब यही विशेष रूप से योगमार्ग में स्वधर्म कहा जाता है ।। २० ।। भगवान् शिव ने श्रुति, स्मृति, तन्त्र और पुराण तथा आगमों में यही कहा है कि योगमार्ग से श्रेष्ठ मोक्षप्रद--परमात्मबोधप्रदायक अन्य कोई मार्ग नहीं है ।। २१ ।।

महायोगी गोरखनाथजी ने योग को वेदकल्पतरु का परम फल कहा है—

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ।।
(गोरक्षशतक-६)

वेद कल्पतरु हैं । जिस तरह कल्पतरु की शाखायें पक्षियों के आश्रयस्थान हैं, ठीक इसी तरह द्विजों (पण्डितों, विद्वानों) द्वारा वेद की शाखाओं, प्रतिशाखाओं का परिशीलन किया जाता है । वेदरूपी कल्पतरु का फल योग है । हे सत्पुरुषो ! इसका सेवन (साधन) करो । यह योग संसार के त्रय—आधिदैहिक आधिभौतिक और आधिदैविक ताप का शमन (नाश) कर देता है । इस अभ्यास अथवा साधन से सांसारिक दुःख अथवा भवबन्धन समाप्त हो जाता है, स्वरूपबोध प्राप्त होता है ।

योगः संहननोपायो ज्ञानसङ्गतियुक्तिषु ।। २२ ।।
लोके निकृष्टं सततं यं वा यं वा प्रकुर्वंते ।
तं वा तं वा वर्जयन्ति लोका ज्ञानबलेन तु ।। २३ ।।
मनुष्याणां च सर्वेषां प्राक् संस्कारवशादिह ।
शास्त्रयुक्तिसमाचारः क्रमेण भवति स्फुटम् ।। २४ ।।

दो वस्तुओं को मिलाना ही योग है । लोक में अनित्य फल देने वाली वस्तुओं के योग का जो अर्थ किया जाता है, वह गौण है । यह योग तो ज्ञान-साधनपरक मोक्षप्रदायक है । (यही योग का मुख्य अर्थ है ।) ज्ञानी लोक में व्यवहृत निकृष्ट अर्थ का परित्याग कर—अनित्य फलदायक गौण अर्थ के स्थान पर मुख्य अर्थ का ग्रहण करते हैं । सभी मनुष्यों की पूर्वजन्म के संस्कार

और वासना के अनुरूप इस दिशा में प्रवृत्ति होती है । अतएव क्रमपूर्वक शास्त्र-युक्ति व्यवहार के प्रकट होने पर ही किन्ही-किन्हीं भाग्यशाली प्राणी की प्रवृत्ति योगसाधना में होती है ।। २२–२४ ।।

एवं पिण्डे संसिद्धे ज्ञानप्राप्त्यर्थं तच्च परमं पद महासिद्धानां मतं परिज्ञाय च तस्मिन्नहं भावे जीवात्मा च सहजसंयमसोपायाद्वैतक्रमेणोपलक्ष्यते ।। २५ ।।

इस तरह योगसाधना के द्वारा पिण्ड के सिद्ध होने पर अखण्ड ज्ञान की प्राप्ति के लिये महासिद्धों के मत में चिद्रूप शक्ति सहित अखण्ड शिवतत्व ही परम पद कहा जाता है । उस आत्मस्वरूप अखण्ड शिवतत्व में यह भाव स्थापित करे कि मैं ही शिव हूँ, मुझमें और शिव में सम्पूर्ण तादात्म्य है । परम शिव से अभिन्न जीवात्मा—जीव का वास्तविक आत्मस्वरूप ही सहज, संयम, सोपाय और अद्वैत क्रम से लक्षित होता है ।। २५ ।।

सहजसयमसोपायाद्वैतज्ञान

तत्र सहजमिति विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वरूपेणावभासमानमिति ज्ञात्वैकमेवास्तीति स्वस्वभावेन यज्ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम् ।। २६ ।।

सहज ज्ञान का वर्णन किया जाता है । यद्यपि (अलखनिरञ्जन) परमेश्वर विश्वातीत निराकार और निर्गुण है तथापि वह मायाउपाधिसहित विश्वरूप में अवभासित, प्रतिभासित होता है । ऐसा समझ कर तत्वदृष्टि से परमेश्वर और मुझ (जीवात्मा) में पूर्ण अभेदता है । अपने आपको साधक परमात्मस्वरूप, असंग और व्यापक अनुभव करता है । इस तरह का स्वाभाविकं यथार्थ (तत्व) ज्ञान ही सहज ज्ञान है ।। २६ ।।

संयम इति सावधानानां प्रस्फुरद्व्यापाराणां निजवर्तिनां संयमं कृत्वाऽऽत्मनि धीयत इति संयमः ।। २७ ।।

सहज ज्ञान के उपरान्त संयम के क्रम का वर्णन किया जाता है । इन्द्रियाँ हमारे शरीर के कार्यों में अपने विषयों के ग्रहण में तत्पर रहती हैं । (इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति स्वाभाविक है ।) निरन्तर विषय-ग्रहण-व्यापार में तत्पर इन्द्रियों तथा मन को विषयाभिमुख होने से निरुद्ध कर उन्हें आत्मा में—अखण्ड परमात्म स्वरूप में लगाना ही संयम कहा जाता है ।। २७ ।।

सोपायमिति स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वात्मन्येकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यम् ।। २८ ।।

अब सोपाय का वर्णन किया जाता है । मैं स्वयमेव स्वप्रकाशस्वरूप (द्वैताद्वैतविवर्जित अखण्ड परमात्मरूप) हूँ—इस तरह परमात्मा में अपनी आत्मा को तत्त्वतः अभेद कर साधक को आत्मस्वरूप में स्थित रहना चाहिये । जिस ज्ञान से इस अखण्डस्वरूपता का बोध होता है, वही सोपाय ज्ञान है ।। २८ ।।

अद्वैतमित्यकर्तृं तयैव योगी नित्यतृप्तो निर्विकल्पः सदा निरुत्थानत्वेन तिष्ठति ।। २९ ।।

अब अद्वैत स्वरूपस्थितिका निरूपण किया जाता है । आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है, वह असंग, शून्य, निर्विकल्प है । इस तरह आत्मा की परमात्मा में—अखण्ड निरञ्जन परमेश्वर में अभेदता का स्थापन कर—निरुत्थान भाव से परमात्मस्वरूप में स्थित योगी नित्यतृप्त होता है; उस परमात्मस्वरूप में सदा अच्युत रहता है ।। २९ ।।

सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः स्वस्वनिग्रहः सोपायं स्वस्वविश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ।। ३० ।।

जीवात्मा और परमात्मा में सम्पूर्ण अभेदता है—इस तरह का ज्ञान ही सहज कहलाता है । इन्द्रियों सहित मन को आत्मा में प्रवृत्त करना—निग्रहीत करना ही संयम है । अपने सत्स्वरूप में स्थिति—विश्रान्ति ही सोपाय है और अद्वैत स्वरूप ही परम पद है ।। ३० ।।

सद्गुरुका सेवन

तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न तर्कशब्दविज्ञानान्नाचाराद्वेदपारगात् ॥३१॥
वेदान्तश्रवणान्नैव तत्वमस्यादिबोधनात् ।
न हंसोच्चारणाज्जीवब्रह्मणोरैक्यभावनात् ॥३२॥
न ध्यानान्नजपाल्लीनः सर्वज्ञः सिद्धिपारगः ।
स्वेच्छो योगी स्वयं कर्ता लीलया चाजरामरः ॥३३॥
अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडति भैरवो यथा ।
इत्येवं निश्चलो योऽसौ क्रमेणाप्नोति लीलया ॥३४॥
असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सद्गुरोः करुणां विना ।
अतस्तु गुरुरासेव्यः सत्यमीश्वरभाषितम् ॥३५॥

इस परम पद का ज्ञान सद्गुरु (योगानुष्ठान में तत्पर मार्गदर्शक) के श्रीमुख से सदुपदेशामृत ग्रहण से ही प्राप्त होता है, चाहे करोड़ों शास्त्रों का अध्ययन किया जाय, चाहे साधक विज्ञान प्राप्त करे, चाहे अनेक तर्क में निपुण हो, चाहे आचार में तत्पर हो, चाहे चारों वेदों में पारंगत हो, चाहे वेदान्तश्रवण में ज्ञाननिष्ठ हो, चाहे तत्वमसि आदि वाक्यों से आत्मतत्त्व में प्रबुद्ध हो, चाहे सोऽहं-सोऽहं—हंस मन्त्र (अजपा गायत्री) को सिद्ध कर ले, जीवात्मा-परमात्मा में अभेदता की अनुभूति करे, चाहे ध्यान लगाये, चाहे जप करे पर गुरु के उपदेश से ही योगी सिद्ध होता है, सर्वज्ञ होता है, सभी सिद्धियाँ उसके करतलगत हो जाती हैं, वह स्वयं कर्ता हो जाता है, अनायास अजर और अमर हो जाता है, वह सर्वत्र अभय हो जाता है, देवताओं और दैत्यों द्वारा वह अवध्य होता है। वह सर्वत्र भैरव—(साक्षात् भगवान शिव-) रूप होकर विहार करता है। वह संशयरहित होता है और असाध्य सिद्धियों को अपने वश में कर लेता है । यह सब कुछ गुरु की कृपा के विना असम्भव है, इसलिये (आदरपूर्वक प्रीतिपूर्वक) अच्छी तरह गुरु की शरण प्राप्त कर श्रद्धावान् होना चाहिये, ईश्वर (शिव) का यह कथन सत्य है, सत्य है ॥ ३१–३५ ॥

प्रथमेत्वरोगतासिद्धिः सर्वलोकप्रियो भवेत् ।
कांक्षन्ति दर्शनं तस्य स्वात्मारूढ़स्य नित्यशः ।।३६।।
कृतार्थः स्याद् द्वितीये वै कुरुते सर्वभाषणम् ।
तृतीये दिव्यदेहस्तु व्यालैर्व्याघ्रैर्न बाध्यते ।।३७।।
चतुर्थे क्षुतृषानिद्राशीतातापविवर्जितः ।
जायते दिव्य योगीशो दूरश्रावी न संशयः ।।३८।।
वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम् ।
षष्ठे न च्छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न भिद्यते ।।३९।।
वायुवेगी क्षितित्यागी दूरदर्शी स सप्तमे ।
अणिमादिगुणोपेतस्त्वष्टमे वत्सरे भवेत् ।।४०।।
नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक्चरो भवेत् ।
दशमे पवनाद वेगी यत्रेच्छा तत्र धावति ।।४१।।
सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग्भवेत् ।
द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्त्ता हर्ता स्वयं भवेत् ।।४२।।
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्रीभैरवो यथा ।।४३।।

सद्गुरु से दीक्षित होकर सदुपदेशग्रहणपूर्वक योगसाधना में तत्पर होने पर साधक पहले वर्ष में शरीर के मलादि दोषों से निर्मल होकर नीरोग हो जाता है और सभी लोगों के लिये समानरूप से प्रिय होता है । योग-साधना में तत्पर उस साधक के दर्शन की सब लोग इच्छा करते हैं । वह दूसरे वर्ष में (संकल्प-रहित होकर) सफलमनोरथ हो जाता है और उसे सभी भाषाओं में बातचीत करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है । तीसरे वर्ष में वह देहसिद्ध हो जाता हैं, उसका शरीर दिव्यतेज से सम्पन्न हो जाता है, और सर्प-व्याघ्र आदि पशु उसके समक्ष अहिंसक हो जाते हैं, उसे किसी भी तरह की बाधा नहीं पहुँचाते हैं । चौथे वर्ष में वह योगसाधक भूख-प्यास, जाड़ा-गरमी आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है और दूर स्थान पर होने वाले शब्दों को सुनने लगता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । पाँचवें वर्ष में वह वाक्सिद्ध हो जाता है—वह जो कुछ भी कहता है, वह सत्य होता है और वह दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की

सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है—दूसरे के मृतशरीर में प्रवेश कर उसे प्राणान्वित कर देता है। छठें वर्ष में उसका शरीर इतना पुष्ट हो जाता है कि किसी भी प्रकार के शस्त्र तथा वज्रपात आदि से प्रभावित नहीं होता है। वह आसन पर बैठे-बैठे पृथ्वीतल से ऊपर उठ जाता है और वायुके समान वेग धारण कर इस तरह सातवें वर्ष में आसमान में उड़ने लगता है। आठवें वर्ष में वह अणिमा आदि सभी सिद्धियों से सम्मन्न हो उठता है और नौवें वर्ष में उसका शरीर वज्र के समान हो जाता है, वह आकाश और अनेक दिशाओं में भ्रमण करने में समर्थ होता है। दशवें वर्ष में वह स्वेच्छा से पवन के वेग के समान अभीष्ट स्थान में शीघ्रातिशीघ्र पहुँच जाता है। ग्यारहवें वर्ष में वह सर्वज्ञ और समस्त सिद्धियों का स्वामी हो जाता है। बारहवें वर्ष में वह साक्षात् शिव के समान जगत् को रचने और उसका संहार करने की सामर्थ्य से युक्त होता है। वह योगसिद्ध पुरुष भैरव के समान तीनो लोकों में पूज्य होता है॥ ३६–४३॥

एवं द्वादशवर्षैस्तु सिद्धयोगी महाबलः।
जायते सद्गुरोः पादप्रभावान्नात्र संशयः॥४४॥

बारह वर्षों में सद्गुरु के शरणापन्न होकर योगाभ्यास करने से साधक सिद्धयोगी होकर शिवस्वरूप हो जाता है, इसमें संसय नहीं है॥ ४४॥

अनुवुभूषितयोनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुससरणात्परमं पदं, समरसीकरणं न च दूरतः॥४५॥

जो योगसाधक शान्ति—मुक्ति चाहता है, जो मोक्ष का अनुभव करना चाहता है, उसे गुरु के चरण-कमल का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। सद्गुरु के अनुग्रह से योगसाधन में तत्पर होने से उसे पिण्डसिद्धि (अपने पिण्ड में परपिण्ड—परमात्मरूप की अखण्ड व्यापकता की अनुभूति) और परम पद की प्राप्ति सहज सुलभ हो जाती है॥ ४५॥

गुरुकुलसन्तान

गुरुकुलसन्तानं पञ्चधा प्रोक्तम्। आईसन्तानं विलेश्वर सन्तानं, विभूतिसन्तानं, नाथसन्तानं, योगीश्वरसन्तानञ्चेत्येषामपि सन्तानानां पृथक् पृथक् वैशिष्ट्यं वर्तते॥ ४६॥

योगमहाज्ञान के उपदेष्टा सिद्धगुरुओं की सन्तान (वंश)–परम्परा का वर्णन किया जाता है। यह पाँच प्रकार का वर्णन किया जाता है । यह पांच प्रकार की है। आई नाम विमला शक्ति का है, यह आईनाथ या उदयनाथ से सम्बद्ध है, आई शिष्य को ही आईसन्तान-परम्परा से अभिहित किया जाना है। दूसरी परम्परा विलेश्वर गुरु की है। (यद्यपि इस परम्परा में दीक्षित शिष्य दिगम्बर होते हैं——वस्त्र तक नहीं धारण करते तथापि अपने उपदेशामृत से श्रद्धालु अधिकारी व्यक्तियों को दीक्षित करते हैं। तीसरी परम्परा उन सिद्ध गुरुओं की है, जो विभूति धारण करते हैं, उनके द्वारा दीक्षित शिष्य विभूति-सन्तान कहे जाते हैं। चौथी परम्परा नाथयोग के सिद्ध गुरुओं की है, समस्त प्रपंचों से अतीत नाथतत्व की दीक्षा से दीक्षित शिष्य नाथसन्तान कहे जाते हैं। पाँचवीं परम्परा योगीश्वर सन्तान के रूप में विख्यात है। व्यापक, असंग अलख-निरञ्जन तत्वस्वरूप में लय को प्राप्त योगीगुरु शिष्यों की योग्यता के अनुरूप सदुपदेश प्रदान करते हैं। ऐसे शिष्य योगीश्वर-सन्तान के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों परम्पराओं की पृथक्-पृथक् विशेषताएँ हैं ॥ ४६ ॥

परमार्थतः सर्वं पाञ्चभौतिकं न जाताः पुरुषाः सम्बोधमात्रैकरूपः शिवस्तदितरत्सर्वमज्ञानमव्यक्तं भवति तत्र शिवस्तु ज्ञानम् ॥ ४७ ॥

परमार्थ के स्तर पर विचार करने से पता चलता हैं कि संसार की समस्त वस्तुएँ पाञ्चभौतिक हैं, पाँच तत्वों से उत्पन्न हैं । (इस तरह गुरुप्रणाली भी पाँच रूपों में विभक्त है।) जीवात्मा——पुरुष आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती (क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश भी होता है), यह आत्मा सद्ज्ञानस्वरूप शिव है, शिव से इतर सब कुछ अज्ञान है, अज्ञान-अव्यक्त माया से बोधित यह जगत् प्रपञ्च मात्र है। एक मात्र शिव ही अखण्ड ज्ञानस्वरू व्यापक परमात्मा हैं ॥ ४७ ॥

एतेषामपि सन्तानानां केचित्स्वपराङ्मुखा वेशमात्रसम्पन्नाः क्रयविक्रयादिकं कुर्वन्ति सन्तानभेदं प्रत्यन्योन्यमधः कुर्वन्ति योगमार्गं द्वेषयन्ति ॥ ४८ ॥

इन योगी-सन्तानों में अनेक आत्मविमुख होकर जगत् के व्यापार (लेन-देन, संग्रह, त्याग आदि प्रपंच) में तत्पर रहते हैं, केवल वेशमात्र धारण कर योगी कहलाते हैं । इस तरह परस्पर एक-दूसरे को नीचा दिखाते हैं और योगमार्ग से द्वेष करते हैं ।। ४८ ।।

रजसा घोरसंकल्पाः कामुका अतिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापाधिक्कुर्वन्तीश्वरप्रियान् ।। ४९ ।।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरमानन्दलक्षितान् ।
स्वेच्छाचारविहारैकज्ञानविज्ञानसंयुतान् ।। ५० ।।
यूयं शिष्टा वयं दुष्टा दुष्टा यूय वयं तथा ।
एव वदन्ति चान्योन्यं प्रमोहेन निरन्तरम् ।। ५१ ।।

इस तरह सन्मार्ग—योगमार्ग से भ्रष्ट योगी रजोगुणी होते हैं और भयानक से-भयानक संकल्पों की पूर्ति और कामनाओं की सिद्धि में लगे रहते हैं, वे बड़े क्रोधी, दाम्भिक और अभिमानी होते हैं, ऐसे पापात्मा परमात्मा के शरणागत, संत के संग और सच्छास्त्रों के अध्ययन में आनन्द लेने वाले, अखण्ड आत्मस्वरूप में रमण करने वाले आत्मज्ञानी और परमात्मतत्त्व के विज्ञानियों की निन्दा करते हैं कि आप अपने को शिष्ट और हमें दुष्ट समझते हैं, पर वास्तव में (सज्जन के वेष में) आप ही दुष्ट और हम लोग शिष्ट हैं; इस तरह अज्ञानी की तरह वे आपस में एक-दूसरे की निन्दा करते रहते हैं ।। ४९–५१ ।।

पृथ्वीजलं तथा वह्निर्वायुराकाशमेव च ।
एते सन्तानोदयास्तु सम्यगेव प्रकीर्तिताः ।। ५२ ।।

शक्तिसम्वलित शिव की स्वप्रकृति से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश-रूप में पाँच सन्तानों की उत्पत्ति का ही वर्णन उपलब्ध होता है ।। ५२ ।।

काठिन्यं चार्दता तेजो धावनं स्थिरता खलु ।
गुणा एते च पञ्चैव सन्तानानां क्रमात्स्मृताः ।। ५३ ।।
ब्रह्माविष्णुश्चरुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
एताश्च देवताः प्रोक्ता सन्तानानां क्रमेणु तु ।। ५४ ।।

पृथ्वी का गुण कठोरता है, जल का गुण आर्द्रता है, अग्नि का गुण तेज है, वायु का गुण सञ्चरण है और आकाश का गुण अचलता स्थिरता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव ही इनके पाँच अधिष्ठातृ देवता हैं। ये पाँच गुरुसन्तान के रूप में यथाक्रम (उपास्यरूप में) वर्णित हैं। (आदिनाथ शिव ही परम गुरु हैं, उन्हीं की सन्तान के रूप में इन पाँच गुरुवंश-परम्परा का वर्णन किया गया है।) यही पाँचों गुरुसन्तानों का यथार्थ रूप में अवस्थाभेद से वर्णन है ॥ ५४ ॥

स्थूलसूक्ष्मकारणतुर्यं तुर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते । एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता यः स योगी सिद्ध पुरुषः स योगीश्वरेश्वर इति परमरहस्यं प्रकाशितम् ॥ ५५ ॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तुर्य और तुर्यातीत पाँच अवस्थायें हैं। (इन्हें योग की सात भूमिकाएँ कही गयी हैं, नित्यानित्य वस्तु के विवेकपूर्वक तीव्र मुमुक्षारूप शुभेच्छा पहली भूमिका है। गुरुमन्त्र प्राप्त कर उपनिषद् तथा योगशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्तिमूलक विचारणा दूसरी अवस्था है। आसन, प्राणायाम तथा निदिध्यासनपूर्वक आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति तनुमानसा नाम की तीसरी अवस्था है। समस्त जगत् में आत्मरूपता का ग्रहण सत्त्वापत्ति नाम की चौथी अवस्था है। विश्वप्रपञ्च में सम्पूर्ण अनासक्ति और अद्वैत स्वरूप में स्थिति असंसक्ति नाम की पाँचवीं अवस्था है। स्वरूपानन्द की प्राप्ति पदार्थाभाविनी नाम की छठी भूमिका है, कैवल्यावस्था की प्राप्ति तुर्यगा नाम की सातवीं भूमिका है।) इन पाँचों अवस्थाओं का मर्मज्ञ योगी, सिद्धपुरुष, योगीश्वरेश्वर कहलाता है। इस तरह परम रहस्य का प्रकाशन किया गया ॥ ५५ ॥

अतएव सम्यग् निजविश्रान्तिकारकं महासिद्धयोगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा सम्यक् सावधानेन परमं पदं सम्पाद्य तस्मिन्निजपिण्डे च समरसभावं कृत्वात्यन्तनिरुत्थानेन सर्वानन्दत्वे निश्चलं स्थातव्यं ततः स्वयमेव महासिद्धो भवतीति सत्यम् ॥ ५६ ॥

योगसाधक को चाहिये कि वह मोक्षस्वरूप-प्रदान करने वाले महासिद्धयोगी सद्गुरु से सदुपदेश ग्रहण कर अत्यन्त सावधान होकर परमपद का ज्ञान प्राप्त करे

और उस परमपदरूप में अपने व्यष्टि-पिण्ड में व्याप्त आत्मा का सामरस्य—ऐक्य स्थापित कर उस अद्वैत स्वरूप में सच्चिदानन्दघन अखण्ड परमात्मा में स्थित हो जाय। इस तरह परमपद में स्वरूपावस्था की प्रतिष्ठा से वह स्वयं महासिद्ध—परमतत्वज्ञ योगी हो जाता है ॥ ५६ ॥

न विधिर्नैव वर्णश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।
न भेदोनिधनं किञ्चिन्नाशौचं नोदकक्रिया ॥ ५७ ॥
योगीश्वरेश्वरस्यैव नित्यतृप्तस्य योगिनः ।
चित्स्वात्मसुखविश्रान्तिभावलब्धस्य पुण्यतः ॥ ५८ ॥
सम्यक्स्वभावविज्ञानात् क्रमाभ्यासान्नचासनात् ।
न वैराग्यान्ननैराश्यान्नाहारात्प्राणधारणात् ॥ ५६ ॥
न मुद्राधारणाद्योगान्मौनकर्मसमाश्रयात् ।
न विरक्तौ वृथायासान्न कायक्लेशधारणात् ॥ ६० ॥
न देवार्चनाश्रयाद् भक्त्यानाश्रमाणाञ्च पालनात् ।
न षड्दर्शनकेशादिधारणान्न च मुण्डनात् ॥ ६१ ॥
न जपान्न तपोध्यानान्न यज्ञतीर्थसेवनात् ।
नानन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परम पदम् ॥ ६२ ॥

योगीश्वर, आत्मस्वरूपानन्द में स्वस्थ योगी को मोक्षरूप स्वरूपावस्थिति विश्रान्ति के पुण्य से आत्मस्वभावपरक सूक्ष्म ज्ञान से परमपद की प्राप्ति होती है, उसके लिये विधि—शास्त्रनिर्दिष्ट नियमपालन, वर्ण की मर्यादा और संकल्प (यह करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये) अशौच, तर्पण-क्रिया, जन्म-मरण के संस्कार आदि की आवश्यकता नहीं होती है। क्रमपूर्वक योगाभ्यास, आसन, वैराग्य, अनासक्तिभाव (नैराश्य), आहार, प्राणायाम, मुद्रा-धारणा-योग, मौन के अभ्यास, विशेष कर्म के आचरण, वैराग्य, व्यर्थ परिश्रम, शरीर को उपवास आदि से संयमित करने, इष्ट देव की अर्चना, भक्ति और आश्रम धर्म के पालन, छः दर्शन, केशादिधारण, मुण्डन, जप, तप, ध्यान, यज्ञ, तीर्थसेवन, अनन्त असंख्य उपायों से भी परमपद की प्राप्ति नहीं होती है ॥ ५७–६२ ॥

एतानि साधनानि सर्वाणि दैहिकानि परित्यज्य परम-पदेऽदैहिके स्थीयते सिद्धपुरुषैरिति ॥ ६३ ॥

(उपर्युक्त) ये सभी सधान देह से साध्य हैं । इनमें आसक्त न होकर सिद्ध पुरुष आत्मस्वरूप परम पद में ही स्थित रहते हैं ।। ६३ ।।

विशेष—स्वरूपावस्थिति के लिये इन दैहिक साधनों का अभ्यास सार्थक है अन्यथा ये सब-के-सब निरर्थक हो जाते हैं ।

गुरु की प्रसन्नता और परमपद

तत् कथं गुरुदृक्पातनात् प्रायो दृढानां सत्यवादिनां सा स्थितिर्जायते ।। ६४ ।।

कथनाच्छक्तिपाताद्वा यद्वापादावलोकनात्
प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ।। ६५ ।।

उस अखण्ड आत्मस्वरूप परम पद की प्राप्ति किस तरह होती है। सत्योन्मुख--सत्स्वरूप के इच्छुक दृढ़—योगाभ्यासमें विधिपूर्वक स्थित योगसाधकों में—प्रायः योग्यपात्रों में परम पद की स्थिति उत्पन्न होती है । गुरु के उपदेशामृत से, गुरुद्वारा सूक्ष्म धरातल पर शिष्य में शक्ति के संचार (शक्तिपात) से तथाशिष्य के प्रति गुरुकी सर्वांग में करुणामयी दृष्टि (अवलोकन) से उन्हीं के प्रसाद (अनुग्रह) से परमपद की प्राप्ति होती है ६४-६५

अतएव शिवेनोक्तम् । न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः ।। ६६ ।।

शिवका कथन है कि परम पद की प्राप्ति में गुरु के अनुग्रह से बढ़ कर दूसरा कोई उपाय नहीं है, नहीं है । यह साक्षात् शिवका आदेश है, शिवका आदेश है, शिवका आदेश है, शिवका आदेश है ।। ६६ ।।

वाङ्मात्राद्वाथदृक्पाताद् य करोतिच तत्क्षणात् ।
प्रस्फुटं शाम्भवं वेद्यं स्वसंवेद्यं परं पदम् ।। ६७ ।।

करुणाखण्डपातेनच्छित्त्वा पाशाष्टकं शिशोः ।
सम्यगानन्दजनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते ।। ६८ ।।

जो केवल उपदेश मात्र से अथवा कृपामयी दृष्टि से करुणा की अखण्ड वृष्टि करते हुए शिवस्वरूप (शाम्भव) स्वसंवेद्य परम पद को प्रकाशित कर शिष्य के आठ पाशों (जरा, जन्म, मृत्यु, व्याधि, काम, क्रोध, मोह, अविद्या—अहंकार) का नाश कर देता है और स्वरूपानन्द में प्रतिष्ठित कर देता है, वही सद्गुरु कहा जाता है ।। ६७-६८ ।।

निमिषार्धार्धपाताद् वा यद्वापादावलोकनात् ।
स्वात्मानं स्थिरमाधत्ते तस्मै श्रीगुरवे नमः ।। ६९ ।।

जो केवल निमिष के लेशमात्र से ही शक्तिपात के द्वारा अथवा करुणापूर्वक अवलोकन कर शिष्य को आत्मस्वरूप—परमपद में स्थिर (अधिष्ठित) कर देता है, उस गुरु को नमस्कार है ।। ६९ ।।

नानाविकल्पविश्रान्ति -कथया कुरुते तु यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्याविडम्बकः ।।

अतएव परमपदप्राप्त्यर्थं स सद्गुरुः सदा वन्दनीयः ।। ७० ।।

जो अपने सद्ज्ञानामृत से (साधक के अथवा शिष्यके हृदय में स्थित) विश्वप्रपंचरूपविश्रान्ति—सांसारिक मोहजालका नाश कर देता है, वही सद्गुरु है । संसारके रमणीय विषयभोग में शिष्य को व्यामोहित कर असत्स्वरूप में स्थित करने वाला गुरु नहीं हो सकता है । अतएव परमपद को प्राप्त करानेवाले सद्गुरु की ही वन्दना करनी चाहिये ।। ७० ।।

गुरुरिति गृणाति शं सम्यक् चैतन्यविश्रान्तिमुपदिशति विश्रान्त्या स्वयमेव परात्परं परमपदमेव प्रस्फुटं भवति तत्क्षणात् साक्षात्कारो भवति ।। ७१ ।।

गुरु (शिष्य के अज्ञान-अन्धकार का नाश कर उसे) कल्याण प्रदान करता है । चैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठित होने का, परमपद में स्थित होने का

सदुपदेश प्रदान करता है। इस तरह चैतन्यस्वरूप में विश्रान्ति के फलस्वरूप परमपद प्रस्फुटित प्रकाशित—होता है और शिष्य (गुरु के अनुग्रहसे) अखण्ड अनन्त, अलख-निरञ्जन परमशिव का साक्षात्कार करता है ।। ७१ ।।

अतएव महासिद्धानां मते प्रोक्तं वाङ्मात्रेण सम्यगवलोकनेन वा तत्क्षणान्मुहुर्विश्रान्तियुक्तं करोतीति यः स सद्गुरुर्भवति । नोचेन्निजविश्रान्ति विना पिण्डपदयोः समरसकरणं न भवतीति सिद्धान्तस्तस्मान्निजविश्रान्तिकारकः सद्गुरुरभिधीयते नान्यः । पुनर्वागादिशास्त्रदृष्ट्यनुमानतर्क मुद्रया भ्रामको गुरुस्त्याज्यः ।। ७२ ।।

योगज्ञान में सन्निष्ठ महासिद्धों के मत में कहा गया है कि केवल सदुपदेशमात्र से अथवा कृपामय कटाक्षपात से तत्काल ही सद्गुरु अपने शिष्य को स्वरूपावस्थिति—परमात्मनिष्ठा से संयुक्त कर देता है, अन्यथा बिना परमात्मनिष्ठा के पिण्डपद (व्यष्टिशरीर में व्याप्त अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा और सकल ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्मा) से सामरस्य—अभेदतानुभूति सम्भव ही नहीं है, यह सिद्धान्त है । अतएव जो स्वरूपावस्थिति—-परमात्मनिष्ठा (निजविश्रान्ति) से शिष्य को कृतार्थ कर देता है, वही सद्गुरु कहलाता है । वाग्जाल—शास्त्र की दृष्टि से तर्क, अनुमान आदि मुद्रा से भ्रमित कर शिष्य को सांसारिक विषय-प्रपञ्च में व्यामोहित करनेवाले गुरु का त्याग कर देना चाहिये, ऐसा गुरु निजस्वरूपस्थिति नहीं प्रदान कर सकता है ।। ७२ ।।

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादोविडम्बकः ।
स्वविश्रान्ति न जानाति परेषां स करोति किम् ।। ७३ ।।

जिसे योगविषयक ज्ञान नहीं है, जो शिष्यों को वाग्जाल में उलझा कर उन्हें दिग्भ्रमित करता है, जो आत्मप्रवञ्चक (विडम्बनायुक्त) है, वह गुरु नहीं है, वह त्याज्य है (उससे दीक्षा नहीं ग्रहण करनी चाहिये) । वह स्वयं जब अपनी स्वरूपस्थिति—परमात्म निष्ठा से अनभिज्ञ है तो दूसरों को किस तरह सन्मार्ग-दर्शन करा सकता है—आत्मज्ञान प्रदान कर सकता है ।। ७३ ।।

शिलया किं परं पारं शिलासंघः प्रतार्य्यते ।
स्वयंतोर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम् ।। ७४ ।।

जिस तरह (नदी के प्रवाह में) पड़ी शिला (धारामें प्रवाहित) अन्य शिलाओं को बहाकर उस पार उन्हें नहीं उतार सकती, उसी तरह जो स्वयं पार होने में असमर्थ है, वह दूसरों को पार नहीं कर सकता है अथवा तारने में असमर्थ है। जो स्वयं तर जाने में समर्थ है, वही दूसरों को भी पार उतार सकता है ।। ७४ ।।

विकल्पसागराद् घोराच्चिन्ताकल्लोलदुस्तरात् ।
प्रपञ्चवासनादुष्टग्रहजालसमाकुलात् ।। ७५ ।।
वासनालहरीवेगान्न स्वं तारयितुं क्षमः ।
स्वस्थेनैवोपदेशेन निरुत्थानेन तत्क्षणात् ।। ७६ ।।
तारयत्येवदृक्पातात् कथनाद्वा विलोकनात् ।
तारिते स्वपदं धत्तो स्वस्वमध्ये स्थिरो भवेत् ।। ७७ ।।

यह संसार एक दुस्तर सागर है, विषयवासनारूप संकल्प-विकल्पस्वरूप चञ्चलता से उद्वेलित है, यह बड़ा भीषण है, चिन्ता की लहरियाँ इसमें निरन्तर उठती रहती है, यह दुष्ट ग्राहों से पूर्ण जालरूप ममता-मोह आदि से आकुल है, विषय-वासनायें ही इसमें लहरियाँ हैं । इस संसार-सागर को जो तैर कर पार उतरने में समर्थ नहीं है, वह किस तरह दूसरों को पार उतार सकता है । जो अपने अखण्ड आत्मस्वरूपमें स्थित है, वही निरुत्थान (जीवात्मा—परमात्मा में सामरस्य). स्थापित कर शिष्य को सदुपदेश प्रदान कर कृपामयी दृष्टिपात कर अथवा ज्ञान प्रदान कर तारने में—-भवसागर से पार उतारने में समर्थ है । वह स्वरूपस्थिति से परम पद में अपने अखण्ड आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है, शिष्यको भवसागर से पार उतार देता है ।। ७७ ।।

ततः स मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात् ।
परानन्दमयोभूत्वा निष्कलः शिवतां व्रजेत् ।। ७८ ।।
कुलानां कोटिकोटोनां तारयत्येव तत्क्षणात् ।
अतस्तु सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवन्दयेत् ।। ७९ ।।

सर्वाङ्गप्रणिपातेन स्तुवन्नित्यं गुरुं व्रजेत् ।
स जनः स्थैर्यमाप्नोति स्वस्वरूपमयो भवेत् ।। ८० ।।

निरुत्थान के द्वारा परमपद में स्वस्थ गुरु के अनुग्रह से शिष्य जन्ममरण दुःखरूप (यातनामय) संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है, वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित होकर इन्द्रियादि के व्यामोह से मुक्त होकर शिवस्वरूप में प्रतिष्ठत हो जाता है । ऐसा गुरु करोड़ों कुल की सन्तानों (योगियों) का उद्धार कर देता है । इसलिये सदा–नित्यदण्डवत् प्रणामपूर्वक स्तवन करते हुए गुरु का (बिधिपूर्वक) अभिवन्दन करना चाहिये । ऐसा शिष्य (समर्थ सद्गुरु के शरणागत होकर) परमात्मपद में अखण्ड स्वरूप में स्थित हो जाता है ।। ८० ।।

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम् ।। ८१ ।।
चित्तविश्रान्तिलब्धानां योगिनां दृढ़चेतसाम् ।
स्वस्वरूपध्ये निमग्नानां निरुत्थानं विशेषतः ।। ८२ ।।
निमिषात् प्रस्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
यस्मिन् पिण्डो भवेल्लीनः सहसा नात्र संशयः ।। ८३ ।।

इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहा जाय । करोड़ों-करोड़ों शास्त्रका अध्ययन करने से भी विना गुरुकी कृपा प्राप्त किये चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक आत्मशान्ति (विश्रान्ति) दुर्लभ है । चित्तविश्रान्ति प्राप्त होने पर ही दृढ़ योगसाधन में तत्पर आत्मस्वरूप में निमग्न योगी को निरुत्थान—स्वबोध (जागरण) सुलभ होता है । निरुत्थान के परिणामस्वरूप तत्काल ही दुर्लभ परमपद प्रकाशित (प्रत्यक्ष) हो जाता है । इस परमपद में व्यष्टि-पिण्ड और परमात्म पिण्ड—ब्रह्माण्ड में सामरस्य स्थापित होता है । इसमें तनिक भी संशय नहीं है ।। ८१-८३ ।।

संवित्क्रियाविकरणोदयचिद्विलासो
विश्रान्तिमेव भजतां स्वयमेव भाति ।

ग्रस्ते स्ववेगनिचये पदपिण्डमैक्यं
सत्यं भवेत्समरसं गुरुवत्सलानाम् ।। ८४ ।।

बुद्धिवृत्ति के विस्तार के उदयस्वरूप चिद्‌विलास–आत्मप्रकाश में ही गुरु के अनुग्रहप्राप्त शिष्यों में मानसव्यापार के निरुद्ध होने पर विश्रान्ति की स्थिति सम्भव होती है, उस विश्रान्ति में समष्टि-व्यष्टिरूप पदपिण्ड का ऐक्य–सामरस्य स्थापित होता है । जीवात्मारूप शिष्य परमात्मपद में गुरु की कृपा से अभेद–अभिन्न हो जाते हैं, उन्हें अखण्ड परमात्मस्वरूप––परमात्मपद अथवा परमपद की प्राप्ति हो जाती है ८४ ।।

इति शिवगोरक्षविरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पञ्चमोपदेशः ।।

छठा उपदेश

[अवधूत योगी]

अथ कोऽवधूतयोगिनामेत्यपेक्षायामाह । यः सर्वान् प्रकृतिविकारानवधुनोतीत्यवधूत योगी । योगोऽस्यास्तीति धूञ्कम्पने धूञिति धातुः कम्पनार्थे वर्तते। कम्पनं चालनं देहदैहिकप्रपञ्चादिषु विषयेषु सङ्गतं मनः परिगृह्य तेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वधाममहिम्नि परिलीनचेताः प्रपञ्चशून्य आदिमध्यान्तनिधनभेदवर्जितः ॥ १ ॥

(सद्गुरु से सदुपदेशामृत प्राप्त कर व्यष्टि-पिण्ड और ब्रह्माण्ड में जीवात्मा-परमात्मा का सामरस्य स्थापित कर सिद्धि प्राप्त करने पर नित्य अवधूत स्वरूप की प्राप्ति होती है ।) अवधूत योगी का स्वरूप क्या है, इस जिज्ञासा के समाधान के लिये अवधूत के लक्षण का वर्णन किया जाता है । जो समस्त प्रकृति-विकार – देह, इन्द्रिय, मन और अनात्मसम्बन्धरूप विषयप्रपञ्चादि मलों का अवधूनन—त्याग कर निर्मल स्वरूप में संस्थित हो जाता है, वही अवधूत योगी है । धूञ् धातु 'कम्पन, चालन' अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसका आशय यह है कि दैहिक प्रपञ्चादिविषयों में आसक्त मन को निगृहीत कर उन विषयों से प्रत्याहारित कर—हटाकर प्रपञ्चरहित होकर तथा जन्म-मरण आदि दुःखों से—द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों से छुटकारा पाकर अपने अखण्ड ज्ञानस्वरूप परम शिव में (सामरस्य के द्वारा) तल्लीनचित्त योगी ही नित्य अवधूत है ॥ १ ॥

यकारो वायुबीजं स्याद्रकारो वह्निबीजकम् ।
तयोरभेदश्रोंकारश्चिदाकारः प्रकीर्तितः ।। २ ।।

'य' वायु का बीज है, 'र' अग्नि का बीज है, दोनों का ऐक्य—सामरस्य ही चिद्रूप ओंकार 'ॐ' कहा जाता है ।। २ ।।

विशेष—तन्त्र में शिव को विन्दु और शक्ति को बीज कहा गया है । इस तरह महायोगी गोरखनाथ ने अपने योगग्रन्थों में जहाँ पाँच भूत-तत्व, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की धारणा का निर्देश किया है, वहीं उनके बीज का भी क्रमश 'ल' 'ब', 'र' 'य' और ह' का वर्णन किया है । सिद्धसिद्धान्तपद्धति के उपर्युक्त दूसरे श्लोक में 'य' और 'र' बीज के कथनका आशय है सभी तत्वों के 'वीज' का ग्रहण । पाँच भूतों का लय अपने 'वीज' में स्थापित होता है और चिद्रूप वीज का लय ऊंकार-प्रणव में होता है । ओंकार-ॐकार ही समस्त वीज मन्त्र और शब्दों का उपादान कारण है । इस तरह चिद्रूपा शक्ति से ऊंकार प्रणव का तादात्म्य ही शक्ति और शिव की अभेदता—एकता अथवा समरसता है । इस सामरस्यसे योगी दिव्य शरीर वाला हो जाता है । भगवान् शिव का प्रकारान्तर से कथन है ।

अहं विंदू रजः शक्तिरुभयामेंलन यदा ।
योगिनां साधनावस्था भवेद् दिव्यं वपुस्तदा ।।
(शिवसंहिता ४ । ८७)

तदेतद् व्यक्तमुच्यते—
क्लेशपाशतरङ्गाणां कृन्तनेन विमुण्डनम् ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ।। ३ ।।

जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, पंचक्लेशरूपी जाल के वेग का उच्छेद कर देता है और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं में प्रपञ्च से मुक्त हो जाता है, वही (आत्मस्वरूप में स्थित) योगी अवधूत कहा जाता है ।। ३ ।।

निजस्मरविभूतिर्यो योगी स्वाङ्गे विभूषितः ।
आधारे यस्य वा रूढ़िः सोऽवधूतोऽभिधीयते ।। ४ ।।

अविद्यादि पंच क्लेश के स्मरण से परे होकर जो योगी अपने स्वरूप को इन पाँचों क्लेश के नाशरूप भस्म से समलंकृत करता है और आचार्य (गुरु) द्वारा निर्दिष्ट योगमार्ग में नित्य आरूढ—दृढ़ रहता है, वही अवधूत कहा जाता है ।। ४ ।।

लोकमध्ये स्थिरासीनः समस्तकलनोज्झितः ।
कौपीनं खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते । ५ ।

(अपने स्वरूप का स्मरण कराने वाले विभूतिरूप अलंकार से शोभित) विषयप्रपञ्चरूप संसार (लोक) में अखण्ड आत्मस्वरूप में दृढ़भाव से स्थित रहनेवाला, समस्त संकल्पविकल्परूप भेद-भाव से विमुक्त, कटि में (वस्त्ररूप) केवल मात्र कौपीन, हाथ में (जल पीने के लिये तथा भिक्षा-ग्रहण के उद्देश्य से) खर्पर मात्र धारण कर (लोक में) दैन्यरहित—सर्वसमर्थ रूप में विचरण करने वाला अभय योगी ही अवधूत कहलाता है ।। ५ ।।

अवधूत के वेष और चिह्न

शं सुखं खं परं ब्रह्म शङ्खं सङ्घट्टनाद् भवेत् ।
सिद्धान्तो धारितो येन सोऽवधूतोऽभिधीयते । ६ ।

'शं' शब्द सुख (लोककल्याण) का वाचक है और 'ख' शब्द (अपने अखण्ड ज्ञानस्वरूप-परमात्मा) परब्रह्म का वाचक है ।। दोनों के मेल—ऐक्य अथवा योग से 'शंख' शब्द सिद्ध होता है । अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर अपने ज्ञानरूप उपदेशामृत और योगसाधन से जगत् के प्राणियों को सन्मार्ग पर लगा कर उनका कल्याण सम्पादन करने वाला ही अवधूत है । वह शंख धारण करता है—यही सिद्धान्त है । (शंख को बाह्य चिह्न भी परिलक्षित किया जा सकता है ।) अतएव शंख धारण करने वाला अवधूत कहा जाता है ।। ६ ।।

पादुका पदसंवित्तिर्मृगत्वक् स्यादनाहता ।
शेली यस्य परासंवित् सोऽवधूतोऽभिधीयते । ७ ।
मेखला निवृत्तिर्नित्यं स्वस्वरूपं कटासनम् ।
निवृत्तिः षड्विकारेभ्यः सोऽवधूतोऽभिधीयते । ८ ।

चित्प्रकाशपरानन्दौ यस्य वै कुण्डलद्वयम् ।
जपमालाक्षविश्रान्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते । ९ ।
यस्य धैर्यमयोदण्डः पराकाशश्च खर्परम् ।
योगपट्टो निजा शक्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते । १० ।

पादुका परमात्म-ज्ञान का स्वरूप है, जिसने पैर में पादुका को धारण किया है, (आन्तरिक लक्षण के रूप में) जो परमात्म-ज्ञान के आश्रय में स्थित है, जिसने मृगचर्म धारण किया है अथवा (मृगचर्मरूप) अनाहत नाद से जो विशोभित है, पराशक्तिरूप (चिद्रूप) ज्ञान से जो युक्त है अथवा परासंवित् रूप शेली जिसने गले में धारण की है, वह अवधूत कहा जाता है । जिसने कटि में मेखला पहनी है अथवा जो मेखलारूप (प्रापंचिक विषयों में) निवृत्ति को धारण करने वाला है, जो स्थिर आसन पर स्थित है अथवा स्थितआसनरूपी आत्म-स्वरूप में ही जो संस्थित है, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—छः विकारों से निवृत्त—परे है, वही अवधूत है । जिसने कानों में दो कुण्डल धारण किये हैं अथवा चित्प्रकाश और परमानन्द से जो सम्पन्न है, जपमाला धारण कर (मन्त्रजापपूर्वक) जो आत्मसत्ता का स्मरण करता है अथवा जिसकी दृष्टि में विषय-प्रपंचों से उपरति ही चित्त-विश्रान्ति है, वही अवधूत कहा जाता है। जो दण्ड धारण करता है अथवा धैर्य धारण करना जिसके लिये (योगसाधना में) दण्डरूप है, जो हाथ में खर्पर (खप्पर) धारण करता है या पराकाश ही जिसके लिये खर्पर है और जो योगपट्टधारण करता है अथवा निजाशक्ति ही जिसके लिये योगपट्ट है, वही अवधूत कहा जाता है ।। ७–१० ।।

भेदाभेदौ स्वयं भिक्षां कृत्वा स्वास्वादने रतः ।
जारणातन्मयी भावः सोऽवधूतोऽभिधीयते । ११ ।
अचिन्त्ये निजदिग्देशे स्वान्तरं वस्तु गच्छति ।
एकदेशान्तरीयो यः सोऽवधूतोऽभिधीयते । १२ ।
स्वपिण्डममरीकर्तुमनन्ताममरीं च यः ।
स्वयमेवपिबेदेतां सोऽवधूतोऽभिधीयते । १३ ।
अचिन्त्यावज्रवद्गाढ़ा वासनामलसंकुला ।

सा वज्री भक्षिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते । १४ ।
ग्रावर्तयति यः सम्यक् स्वस्वमध्ये स्वयं सदा ।
समत्वेन जगद् वेत्ति सोऽवधूतोऽभिधीयते । १५ ।

जो भेद, अभेद, द्वैत और अद्वैत से अतीत होकर द्वैताद्वैतविलक्षण स्वसंवेद्य, अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मरस के आस्वादन में तत्पर है और जागरण—रागद्वेष भाव में पूर्ण वैराग्यभाव से तन्मय है अथवा सच्चिदानन्दस्वरूप में स्वस्थ है, वह अवधूत कहा जाता है । जो देश-काल से अतीत सर्वव्यापक अपने ही में असीम परमात्मा को प्राप्त कर लेता है और (दूसरों की दृष्टि में) एकान्त वास में रहते हुए भी जो अपने स्वसंवेद्य स्वरूप में सब जगह विद्यमान है, वही अवधूत कहा जाता है । जिसने पार्थिव—भौतिक शरीर को अमर—मृत्युरहित करने के लिये (खेचरी मुद्रा की सिद्धि के द्वारा) सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का (विपरीत करणी से) स्वयं पान कर लिया है अथवा जो पान कर लेता है, वह अवधूत कहा जाता है । जिसने मल से दूषित वज्रनाड़ी को (प्राणायाम आदि की सिद्धि से) मल रहित कर लिया है अथवा वज्रोली के अभ्यास द्वारा जिसने शरीर में वीर्य को ऊर्ध्वमुख कर जीर्ण कर दिया है, पचा लिया है, वह अवधूत कहलाता है । जो अपने आत्मस्वरूप में परमात्मा की अभेदानुभूति करता है अथवा आत्मा-परमात्मा में सामरस्य की सिद्धि कर आत्मपद में प्रतिष्ठित हो जाता है, वही सर्वत्र व्यापक योगी अवधूत कहा जाता है ॥ ११–१५ ॥

ग्रवधूत की ग्रवस्था (स्थिति)

स्वात्मानमवगच्छेद्यः स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
ग्रनुत्थानमयः सम्यक् सोऽवधूतोऽभिधीयते । १६ ।
ग्रनुत्थाधारसम्पन्नः परविश्रान्तिपारगः ।
धृतिचिन्मयतत्वज्ञः सोऽवधूतोऽभिधीयते । १७ ।
ग्रव्यक्तं व्यक्तमाधत्ते व्यक्तं सर्वं ग्रसत्यलम् ।
स सत्यं स्वान्तरे सन्न सोऽवधूतोऽभिधीयते । १८ ।
ग्रवभासात्मको भासः प्रकाशे सुखसंस्थितः ।

लीलयारमते लोके सोऽवधूतोऽभिधीयते ।
क्वचिद् भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नोदिगम्बरः ।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते । १६ ।

जो अपने अखण्ड आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभवी—साक्षात्कार करने वाला है और अपने उस स्वरूप में स्थित है और अनुत्थान (आत्मा-परमात्मा के ऐक्य) भाव में तल्लीन है, वही अवधूत कहलाता है । जो परमात्मा-आत्मा के एक स्वरूपमय तादात्म्य में स्वाश्रित—आत्माभिव्यक्त है और सत्स्वरूप में स्थिति (विश्रान्ति) का स्वामी है और धैर्यपूर्वक सच्चिदानन्द—परमात्मतत्व में स्थित है—व्यक्त है तथा स्व में भी लीन (अव्यक्त) हो जाता है अथवा व्यक्त को अव्यक्त और अव्यक्त परमात्मा को व्यक्त करता है, वह (अपने भीतर सत्स्वरूप में विद्यमान) अवधूत कहा जाता है । जो समस्त चराचररूप जगन्मात्र का प्रकाशक है और अपनी ही अन्तर्ज्योति— अखण्डपरमात्म प्रकाश में आनन्द का अनुभव करता है और इस लोक में—लोकव्यवहार में स्वस्थ है, वह अवधूत कहलाता है । जो भोगी, योगी, नग्न दिगम्बर, योगिराज तथा गुरु—सभी रूपों में अखण्ड स्वरूप में प्रतिष्ठित रह कर जीवन धारण करता है, वही अवधूत कहलाता है ।। १६–१६ ।।

एवं विध नानासंकेतसूचको नित्यप्रकाशे वस्तुनि निजस्वरूपी सर्वेषां सिद्धान्तदर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने सम्यक् सद्बोधकोऽवधूत योगीत्यभिधीयते स सद्गुरुर्भवति । यतः सर्वदर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने समन्वयं करोति सोऽवधूतयोगो स्यात् । २० ।

इस तरह नित्य प्रकाश—शुद्ध, बुद्ध, व्यापक आत्मस्वरूप में ही अनेक (विभिन्न) सिद्धान्त-दर्शनों का स्वरूप-दर्शन में ही सद्बोध सिद्ध (प्रकाशित) करने वाला अवधूत कहा जाता है, वह योगी अवधूत सद्गुरु होता है; क्योंकि वह सभी दर्शनों (अभेदात्मदर्शी मतों) का स्वरूप में ही समन्वय (आत्मानुभव) करता है । वास्तव में सर्वत्र आत्मदर्शन करने वाला योगी ही अवघूत है ।। २० ।।

अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानी सिद्धश्च सुव्रतः ।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्रीसाधुरेव च । २१ ।
जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधी कोविदो बुधः ।
चार्वाकश्चार्हतश्चेति तथा बौद्धः प्रकाशवित् । २२ ।
तार्किकश्चेति सांख्यश्च तथा मीमांसको विदुः ।
देवतेत्यादि विद्वद्भिः कीर्तितः शास्त्रकोटिभिः । २३ ।
आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति पुनः स्वयं ।
अस्तितत्त्वं परं साक्षाच्छिवरुद्रादिसंज्ञितम् । २४ ।

अवधूत अपने स्वसंवेद्य, द्वैताद्वैतविलक्षण, अखण्ड आत्मस्वरूप में आत्मस्थित रहता है, इसलिये वह आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) की अवस्थाओं से परे होने से अत्याश्रमी कहा जाता है, वह (स्वरूप-) ज्ञानी—तत्वविद्, सिद्ध और योगसाधना-व्रत में—जगन्मात्र को परमात्मस्वरूप समझने में दृढ़ होता है । वह सृष्टि, पालन (स्थिति) और संहार में (शक्तियुक्त होने से साक्षात्) ईश्वर होता है, वह स्वामी (आत्मनिग्रही) होता है, वह सर्वदा कृतार्थ और साधु होता है । वह जितेन्द्रिय, आत्मज्ञ, सद्बोधयुक्त, तत्वचिन्तक और सर्वतन्त्रस्वतन्त्र साकार-सगुण भगवान् (सर्वसमर्थ) होता है । वह समस्त नास्तिक-आस्तिक दर्शन में आत्मबुद्धि रखने के कारण सब में अखण्ड आत्मस्वरूप में समाहित रहने वाला, चार्वाक (सांसारिक विषय-भोग-प्रवृत देहात्मवादी), आत्मस्वरूप को प्राप्त अर्हत (जैन), स्वात्मप्रकाश में प्रबुद्ध होकर भी (बुद्धिवृत्तरूपक्षणिक आत्मविज्ञानवादीसुगत) बौद्ध, न्यायवैशेषिक दर्शनावलम्वी परिणामवादी, सांख्यवादी (तत्त्वनिष्ठ) ज्ञानी, कर्मकाण्ड को ही परमफल प्राप्ति कराने वाले साधन में निष्ठ पूर्वमीमांसक, संसार का कारण देवता, स्वभाव, काल, कर्म समझने वाले अनेकानेक शास्त्रों और विद्वानों के विचार का समर्थक, वह योगी अवधूत आत्मदर्शन में स्वस्थ होने से सर्वस्वरूप होता है। आत्मा, परमात्मा, जीवात्मा, स्वस्वरूप, शिवरुद्र-नामयुक्त साक्षात् सर्वात्मा ही अवधूत योगी होता है ।। २१–२४ ।।

विशेष—सांख्यदर्शन ने आत्मा की असंगता का प्रतिपादन किया है—असंगता का तात्पर्य है सर्वात्मस्वरूपावस्थान, जो सिद्धसिद्धान्त है। महर्षि कपिल का वचन है :

असङ्गोऽयं पुरुष इति ॥
(सांख्यदर्शन १ । १५)

न्यायदर्शन में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति अथवा अभाव ही स्वरूपस्थिति-अपवर्ग अथवा निःश्रेयस या ब्रह्मप्राप्ति है, जड़ तथा चेतन का विवेक (तत्त्वज्ञान) ही दुःखनिवृत्ति का साधन है, जिससे स्वरूप-स्थिति सिद्ध होती है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तराभावादपवर्गः ॥

(न्यायदर्शन १ । १ । २)

जयन्त भट्टने भी न्यायवादी महर्षि गौतम के मत की पुष्टि की है।

स्वरूपेण व्यवस्थानमनो मोक्षः
(न्यायमञ्जरी)

वैशेषिक-दर्शन में आत्मा के शाश्वत अखण्ड स्वरूप का ही प्रतिपादन किया गया है। महर्षि कणाद का कथन है।

सदकारणवन्नित्यम्
(वैशेषिकदर्शन ४ । १ । १)

पूर्वमीमांसक महर्षि जैमिनि ने एक परमात्मा को ही सर्वोपरि कहा है।

'एकत्वेऽपि परम् ।'
(पूर्वमीमांसासूत्र २ । ४ । १३)

इसी तरह वेदान्तदर्शन में महर्षि व्यास ने आत्मा के स्वरूप-प्रतिपादन में कहा है।

तस्य च नित्यत्वात् ।
(वेदान्तसूत्र २ । ४ । १६)

इस तरह अत्याश्रमी योगी अवधूत सर्वथा आत्मस्वरूप में स्वस्थ होता है।

शरीरपद्मकुहरे यत्सर्वेषामवस्थितम् ।
तदवश्यं महापाशाच्छेदितव्यं मुमुक्षुभिः । २५ ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सोऽक्षरः परमस्वराट् ।
स एवेन्द्रः स च प्राणः कालाग्निः स च चन्द्रमाः । २६ ।
स एव सूर्यः स शिवः स एव परमः शिवः ।
स एव योगगम्यश्च सांख्यशास्त्रपरायणैः । २७ ।
स एव कर्म इत्युक्तः कर्ममीमांसकैरपि ।
सर्वत्र सत्परानन्द इत्युक्तो वैदिकैरपि । २८ ।
व्यवहारैरयं भेदस्तस्मादेकस्य नान्यथा । २९ ।
मुद मोदे तु रा देने जीवात्मपरमात्मनोः ।
उभयोरेकसंवित्तिर्मुद्रेति परिकीर्तिता । ३० ।
मोदन्ते देवसङ्घाश्च द्रवन्तेऽसुरराशयः ।
मुद्रेति कथिता साक्षात् सदा भद्रार्थदायिनी । ३१ ।
अस्मिन्मार्गेऽदीक्षिता ये सदा संसाररागिणः ।
ते हि पाखण्डिनः प्रोक्ताः संसारपरिपेलवाः । ३२ ।
अवधूततनुर्योगी निराकारपदे स्थितः ।
सर्वेषां दर्शनानाञ्च स्वस्वरूपं प्रकाशते । ३३ ।

सभी प्राणियों के शरीर में स्थित (पद्मकुहर) हृदय में आत्मस्वरूप स्थित है । यह अविद्यारूप महान् मोह-शोक आदि पाशों से आबद्ध है, (मोक्ष पद की प्राप्ति करने वाले) मुमुक्षुओं को चाहिये कि इस पाश का उच्छेद कर अपने अखण्ड आत्मस्वरूप में स्वस्थ हो जायँ । यह आत्मस्वरूप (आत्मतत्व) ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अक्षर, स्वराट्, इन्द्र, प्राण, काल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, शिव के नामरूप में अभिव्यक्त परम शिव है ।

योगसाधना के फलस्वरूप इसी स्वसंवेद्य तत्व का परम अनुभव होता है । सांख्यशास्त्र के तत्वज्ञ इसी को परम पुरुष जानते हैं, पूर्वमीमांसा मत से यज्ञादि कर्म के फलस्वरूप इसी महत्तत्व का दिग्दर्शन परिलक्षित है, श्रुति की ऋचायें और

वेदान्त सूत्र इसी को परमानन्दस्वरूप परमात्मा कह कर प्रतिपादित करते हैं। इस तरह विभिन्न दर्शनों में व्यवहृत नाम-रूपों में अभिव्यक्त सत्स्वरूप है। यह आनन्द प्रदान करता है और जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य—स्वरूप अथवा सामरस्य का यह आत्मतत्व परम सत्य है, दोनों की अखण्ड ज्ञानस्वरूपावस्थिति—संवित्ति मुद्रा के रूप में परिकीर्तित—प्रसिद्ध है। (मुद्रा में मुद् का अर्थ है आनन्द और रा का अर्थ है प्रदान करना।) मुद्रा (वाह्य चिह्न के रूप में) योगी अपने कानों में धारण कर देवताओं को प्रसन्न कर कल्याणभाजन होते हैं और असुरों को भयभीत—कम्पित (द्रवित) करते हैं अथवा देवता आनन्दित होते हैं और असुर भयभीत होकर भाग जाते हैं। इस योगमार्ग—सिद्धामृत मार्ग में जो सद्गुरुद्वारा दीक्षित—उपदिष्ट नहीं हैं और संसार के विषय-भोगादि प्रपंच में रागासक्त हैं तथा संसार को ही रमणीय समझ कर आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में विस्मृत होते हैं, वे ही पाखण्डी—मिथ्यावादी कहलाते हैं। अवधूत योगी तो अपने योगज्ञान के प्रकाश से समस्त आत्मसम्वन्धी तत्वज्ञान में स्वरूप का वोध प्राप्त कर अपने अखण्ड आत्मस्वरूप में संस्थित होकर आत्मतत्व को प्रकाशित करता है॥ २५–३३॥

सर्वतो भरिताकारं निजबोधेन बृंहितम्।
चरते ब्रह्मविद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते। ३४।
गृहिणी पूर्णता नित्या गेहं व्योमं सदा बलम्।
यस्तया नित्रसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते। ३५।
तदान्तः प्रस्थितो योऽसौ स्वप्रकाशमये वने।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वने मृगवच्चरन्। ३६।
परमात्माऽथ जीवात्मा आत्मन्येव स्फुरत्यलम्।
तस्मिन्न्यस्त सदा येन संन्यासीसीऽभिधीयते। ३७।

अत्याश्रमी—आश्रम धर्मपालन की मर्यादा से परे अवधूत योगी सर्वभाव से ब्रह्मस्वरूप में अखण्ड ज्ञानयुक्त आत्मबोध से पूर्ण होकर ब्रह्मज्ञानी—साक्षात् ब्रह्मरूप होने से ब्रह्मचारी कहा जाता है। वह यद्यपि अनिकेत, पवित्रात्मा और योगसाधना में ही नित्य तृप्त होता है तथापि वह गृहस्थ कहा जाता है, क्योंकि पूर्णता—अखण्ड ब्रह्मरूपता ही उसकी जीवन-संगिनी अथवा सहधर्मिणी है,

सर्वव्यापक शून्य (व्योम) ही उसका निवास है अथवा वह ब्रह्म—अलख निरञ्जन परमेश्वर में स्वशक्ति से स्वस्थ अथवा अधिष्ठित होता है। स्वप्रकाशमय—अखण्ड अन्तर्ज्योतिरूप वन में ही समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध कर ब्रह्म का एकमात्र चिन्तन करता है, इस तरह वह वानप्रस्थ है, केवल वन में हरिण की तरह निवास करने से कोई वानप्रस्थ नहीं होता है। सर्वज्ञत्व-उपाधिसहित परमात्मा और अल्पज्ञत्वउपाधिसहित जीवात्मा की निरुपाधि अखण्ड आत्मस्वरूप में अभेदता की प्रतीति करनेवाला अवधूत योगी अपने समस्त संकल्प का ज्योतिःस्वरूप आत्मा:(परमात्मा) में न्यास कर देता है, वह संन्यासी कहा जाता है ॥३४–३७॥

मायाकमकलाजालमनिश येन दण्डितम्।
अचलो नगवद् भाति त्रिदण्डी सोऽभिधीयते। ३८।
एकं नानाविधाकारं चञ्चलन्तु सदा तु यत्।
तच्चित्तं दण्डितं येन एकदण्डी स कथ्यते। ३९।
शुद्धं शान्तं निराकारं परानन्दं सदोदितम्।
तं शिवं यो विजानाति शुद्ध शैवो भवेत्तु सः। ४०।
सन्तापयति दीप्तानि स्वेन्द्रियाणि च यः सदा।
तापसः स तु विज्ञेयो न च गोभस्मधारकः। ४१।
क्रियाजालं पशुं हत्वा पतिर्त्वं पूर्णतां गतम्।
यस्तिष्ठेत् पशुभावेन स वै पाशुपतो भवेत्। ४२।

संन्यास-आश्रम में बाँस के तीन दण्ड धारण करने वाला त्रिदण्डी संन्यासी कहा जाता है, वह माया (अविद्या), कर्म (धर्म-अधर्म) और कलाजाल (प्राणादि लिंग-शरीर) के बन्धनका तत्वज्ञान द्वारा निवारण कर देता है और अपने अखण्ड आत्मस्वरूप में पर्वत के समान अचल—दृढ़ हो जाता है, इस तरह योगी त्रिदण्डी कहलाता है, केवल बाँस के तीन दण्ड (बाह्य संन्यास-चिह्न के रूप में) धारण करनेवाला त्रिदण्डी नहीं होता। जो अनेक संकल्प-विकल्प में भ्रमित, अनेक राग-द्वेष आदि वृत्तियों में चञ्चल रहता है, उस चित्त को नियन्त्रित—वश में करनेवाला योगी ही एकदण्डी संन्यासी कहा जाता है। जो शुद्ध (गुणातीत, निर्विकार), निराकार (अलख-निरञ्जन सर्वव्यापक), परमानन्द-स्वरूप, स्वप्रकाशित (स्वसंवेद्य अखण्ड परब्रह्म) परमेश्वर (शिव) को तत्वतः जान लेता है,

वही अवधूत योगी शैव है । जो विषय-भोग में उद्दीप्त—रागासक्त समस्त इन्द्रियों को प्रत्याहारित (नियन्त्रित) कर अखण्ड आत्मस्वरूप में लीन कर देता है, वही योगी तपस्वी (तापस) कहलाता है, अंगों को भस्म से रञ्जित करने वाला तापस नहीं होता । जो कर्मजालरूप पशुत्व (जीवभाव) का त्याग कर अखण्ड, परात्पर, पूर्णतम परमशिव की उपासना में तत्पर होकर शिवरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, वही वास्तव में पाशुपत (शैव) है ।। ३८–४२ ।।

परानन्दमयं लिङ्गं निजपीठे सदाऽचले ।
तल्लिङ्गं पूजितं येन स वै कालमुखो भवेत् । ४३ ।
विलयं सर्वतत्त्वानां कृत्वा संधार्यते स्थिरम् ।
सर्वदा येन वीरेण लिङ्गधारी भवेत्तु सः । ४४ ।
अन्तकादीनि तत्त्वानि त्यक्त्वा मग्नो दिगम्बरः ।
यो निर्वाणपदे लीनः स निर्वाणपरो भवेत् । ४५ ।
स्वस्वरूपात्मकं ज्ञानं समन्त्रं तत् प्रपालितम् ।
अनन्यत्वं सदा येन स वैकापालिको भवेत् । ४६ ।

जो सच्चिदानन्दस्वरूप, संसार का कारणरूप अपने नित्यधाम में सदा स्थित है, उस लिङ्ग (परमेश्वर शिव) की पुष्पचन्दनादि से उपासना–पूजा करने वाला कालमुख कालजयी महाकाल का उपासक कहलाता है । जो समस्त भौतिक तत्व के प्रति विद्यमान अहंकार-भाव का—संसाराभिमानरूप शत्रु का वीरतापूर्वक दमन कर देता है, वही वीरशैव—लिङ्गधारी कहा जाता है । जन्म-मरण आदि विनश्वर वस्तुओं का परित्याग कर संसारात्मक आवरण से जो रहित होता है तथा परब्रह्म परमेश्वर में लीन रहता है, वही दिगम्बर, निर्वाण में स्वस्थ—निर्वाणी संन्यासी कहा जाता है । जो गुरु से मन्त्र प्राप्त कर उनके द्वारा उपदिष्ट साधन-मार्ग पर चलते हुए अपने शिवस्वरूप में बोधयुक्त तथा अनन्य रहता है, एकमात्र अपने उपास्य का ही ध्यान और चिन्तन करता है, वही कापालिक कहा जाता है ।। ४३–४६ ।।

महाव्याप्तिपरं तत्त्वमाधाराधेयवर्जितम् ।
तद् व्रतं धारितं येन स भवेद् वै महाव्रतः । ४७ ।

कुलं सर्वात्मकं पिण्डमकुलं सर्वतोमुखम् ।
तयोरैक्यपदं शक्तिर्यस्तां वेद स शक्तिभाक् । ४८ ।
कौलं सर्वकलाग्रासः सकृतः सततं यया ।
तां शक्तिं यो विजानाति शक्तिज्ञानी स कथ्यते ।
ज्ञात्वा कुलाकुलं तत्वं सक्रमेण क्रमेण तु ।
स्वप्रकाशमहाशक्त्या ततः शक्तिपदं लभेत् । ४९ ।

अलख निरञ्जन, द्वैताद्वैतविलक्षण, आधार-आधेयरहित (सर्वव्यापक), अखण्ड, अविनाशी परमशिव की उपासना का व्रती होने से (इस तरह का उपासक) महाव्रती कहा जाता है । पिण्डरूप, कार्यात्मक (सर्वात्मक) समष्टि-सृष्टिरूप (शिव) ही कुल है, अखण्ड चिद्रूप, अपने में ही निजाशक्ति को संवरित करनेवाला (शिव) अकुल है, कुल-अकुलरूपिणी शक्ति—कुल-अकुल की एकता की महाकारणशक्ति को जाननेवाला ही शक्ति-उपासक (शाक्त) कहा जाता है । जिस शक्ति के द्वारा नित्य प्राणादिवस्तु उपादानरूप समस्त कलाओं का ग्रास—विलय कर दिया जाता है, उस प्रलयकारिणी (महाकाली) को जानने वाला :शक्तिज्ञानी कहा जाता है । क्रमपूर्वक कुल-अकुल शक्ति से तादात्म्य स्थापित करनेवाला (उपासक) शक्तिपद को प्राप्त करता है अथवा कुलाकुलतत्व को यथाक्रम जानकर उसी क्रम से स्वप्रकाशचिद्रूपिणी महाशक्ति में (स्वाधिष्ठानपूर्वक) ऐक्य स्थापित करनेवाला साधक शक्तिपद में स्थित होता है ।। ४७-४९ ।।

मदो मद्य मतिर्मुद्रा माया मीनं मनः पलम् ।
मूर्च्छनं मैथुनं यस्य तेनासौ शाक्त उच्यते । ५० ।

(तन्त्र-उपासना के क्षेत्र में वामाचार में मद्य, मुद्रा, मीन, मांस और मैथुन, पंचमकार का सेवन विहित सिद्ध करनेवाले वाममार्गियों ने समाज में साधन सम्बन्धी सत्स्वरूप की प्राप्ति के प्रति व्यामोह उत्पन्न कर दिया । महायोगी गोरखनाथजी ने इस व्यामोह का खण्डन किया ।) जीव का अहंकार से प्रेरित होकर अपने को ही सर्वशक्तिमान् मानना ही मद अथवा अभिमान है, यही मद्य है । जीव की कामना—अभिलाषा-पूर्ति की इच्छा अथवा मति ही मुद्रा है, शष्कुली (पूड़ी) के रूप में मुद्रा का अर्थ नहीं घटित होता है । इसी तरह

माया ही मीन-मछली है, जल में रहनेवाली मछली से तात्पर्य नहीं सिद्ध होता। मन ही मांस (पल) है और प्राण-अपान का ऐक्य ही मैथुन है अथवा शिव और शक्ति की अखण्ड स्वरूपता में आत्माभिव्यक्ति ही मैथुन है। मद, माया, मन, मुद्रा और मैथुन को महाशक्ति में समर्पित करने वाला ही शाक्त है। ऐसा करने से वह स्वरूप में स्वस्थ हो जाता है। पंचमकार-सेवन के इस सात्त्विक रूप से जीवात्मा शाक्त कहा जाता है ॥ ५० ॥

यया भासस्फुरद्रूपं कृतं चैव स्फुटं बलात्।
तां शक्तिं यो विजानाति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥ ५१ ॥
यः करोति निरुत्थानं कर्तृं चित् प्रसरेत् सदा।
तद्विश्रान्तिस्तया शक्त्या शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥ ५२ ॥
व्यापकत्वे परं सारं यद्विष्णोराद्यमव्ययम्।
विश्रान्तिदायकं देहे तज्ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत् ॥ ५३ ॥
भास्वत्स्वरूपो यो भेदात् भेदभावोज्झितः खलु।
भाति देहे सदा यस्य स वै भागवतो भवेत् ॥ ५४ ॥
यो वेत्ति वैष्णवं भेदैः सर्वासर्वमयं निजम्।
प्रबुद्धं सर्वदेहस्थं भेदवादी भवेत्तु सः ॥ ५५ ॥
पञ्चानामक्षया हानिः पञ्चत्वं रात्रिरुच्यते।
तां रात्रिं यो विजानाति स भेवत् पाञ्चरात्रिकः ॥ ५६ ॥

जिस शक्ति के द्वारा हठात् प्रकाशसंचारक्रियाविशिष्ट जगत् की रचना--सृष्टि की गयी और ब्रह्मरूप प्रकाशित हुआ, उस शक्ति को जो जान जाता है, वह शाक्त कहा जाता है। जो शक्ति को संचार से संकोच कर निरुत्थानस्वरूपस्थिति--चित्त-विश्रान्ति में समाधि में तत्पर होकर अपने अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप में विहार करता है, वही शाक्त कहा जाता है। जो चराचर--समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त विष्णुपद--अलख निरञ्जन तत्व को अपने व्यष्टि-पिण्ड में ही स्थित और अभेद रूप से अभिव्यक्त जानता है, वही वैष्णव कहलाता है। जो स्वप्रकाशरूप भेदातीत होकर सर्वत्र अभेद रूप से व्यापक भगवत्तत्त्व है, उसको जो अपने व्यष्टि पिण्ड में परिव्याप्त--प्रकाशित अनुभव करता है, वही भागवत कहा जाता है।

जो व्यष्टि-समष्टि में स्वप्रकाशित अखण्ड सर्वात्मस्वरूप को उपासना के स्तर पर विभिन्न रूप में उपास्य समझता है, वह भेदवादी कहा जाता है। पाञ्चभौतिक स्थूल रूप का तिरोधान अथवा प्रलय ही पाञ्चरात्र (परमात्मज्ञान) कहा जाता है। (विभिन्न वैष्णवागम–जयाख्यसंहिता, पारमेश्वर-संहिता तथा नारदपाञ्चरात्र आदि ग्रन्थों में वर्णित) इस पाञ्चरात्रस्वरूप ज्ञान को जानने वाला पाञ्चरात्रिक कहा जाता है ।। ५१—५६ ।।

येन जीवन्ति जीवा वै मुक्तिं यन्ति च तत्क्षणात् ।
स जीवो विदितो येन सदाजीवो स कथ्यते । ५७ ।
यः करोति सदा प्रीतिं प्रसन्ने पुरुषे परे ।
शासितानीन्द्रियाण्येव सात्त्विकः सोऽभिधीयते । ५८ ।
सर्वाकारं निराकारं निर्निमित्तं निरञ्जनम् ।
सूक्ष्मं हंसं च यो वेत्ति स भवेत् सूक्ष्मसात्त्विकः । ५९ ।
सत्यमेकमजं नित्यमनन्तं चाक्षयं ध्रुवम् ।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स कथ्यते । ६० ।
ज्ञानज्ञेयमयाभ्यां तु योगनः स्वस्वभावतः ।
कलङ्का स तु विज्ञेयो व्यापकः पुरुषोत्तमः । ६१ ।

जीवात्मा जिस चेतन्य के बल से जगत् में जन्म लेकर--शरीर प्राप्त कर जीवित रहता है और क्षणमात्र में (आत्मज्ञान होने पर) स्वरूप में स्थित होकर मुक्तिपद को प्राप्त होकर चैतन्यस्वरूप हो जाता है, उस परमात्मा से अभिन्न जीवस्वरूप को जो जान लेता है, वह जन्म-मरण दुःख से छुटकारा पाकर सदाजीवी--अमर कहा जाता है। जो परमपुरुष परमात्मा से प्रेम करता है और समस्त विषय-प्रपञ्चमयी इन्द्रियों की क्रिया को परमात्मा में लीन कर देता है; वह सात्त्विक कहलाता है । जो समस्त नामरूप में अभिव्यक्त—सर्वाकार और निराकार है, कारणातीत स्वरूप में अभिव्यक्त निरञ्जन—मायोपाधिरहित परब्रह्म परमेश्वर है, जो हंस - शक्तिशिवरूप परमात्मा है, उसको तत्वतः जान लेने वाला सूक्ष्म–सात्त्विक कहा जाता है। जो अखण्ड, अनन्त सत्स्वरूप, नित्य, अक्षय, ध्रुव (अच्युत--स्वरूप में ही अभिव्यक्त) निष्क्रिय, अभेद परमात्मा को जानकर तत्व का उपदेश देता है, वही सत्यवादी कहा जाता है । मानस और

बाह्य—दोनों प्रकार के पदार्थों से परे सर्वव्यापक—कलंकी, योगमायोपाधिविशिष्ट साकार-सगुण परमेश्वर—पुरुषोत्तम ही योगियों के लिये शुद्ध-बुद्ध, मायोपाधिरहित अलख-निरञ्जन परमात्मा है ॥ ५७–६१ ॥

मुक्तिचारे मतिर्या वै व्यापिका स्वप्रकाशिका ।
एषा ज्ञानवती येन ज्ञातासौ सात्त्विको भवेत् । ६२ ।
क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम् ।
कुरुते व्योमवन्नग्नो योऽसौ क्षपणको भवेत् ।
प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत्सिद्धयोगिराट् । ६३ ।

मोक्षप्राप्ति के अनुष्ठान में स्वप्रकाशमयी, ज्ञानवती अखण्ड बुद्धि में जिसकी मति निरन्तर तल्लीन है, वही सात्त्विक कहा जाता है । जो रागद्वेष का उन्मूलन कर चित्त की वृत्तियों का (योगानुष्ठान के द्वारा) निरोध कर लेता है, वही क्षपणक कहलाता है । वह व्योम के समान नग्न दिगम्बर होता है । शक्ति सृष्टि का प्रसार प्रकाशित करती है, शिव उसका लय—संहार (संकोच) करता है, शक्ति और शिव में ऐक्य-भाव दृढ़ करने वाला सिद्ध योगिराज कहा जाता है अथवा शक्ति प्राणवायु है, श्वास-निःश्वास की प्रसारिका है और शिव (आकर्षण करने वाला) अपानवायु है, इन दोनों के मेलन—सामरस्य का कर्ता सिद्ध योगिराज कहलाता है ॥ ६२–६३ ॥

विश्वातीतं यथा विश्वमेकमेव विराजते ।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्धयोगी भवेत्तु सः । ६४ ।
सर्वासां निजवृत्तीनां प्रसृतिर्भजते लयम् ।
स भवेत्सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः । ६५ ।
उदासीनः सदा शान्त स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो धीरः स भवेत् सिद्धयोगिराट् । ६६ ।
परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वपदोदितः ।
विशुद्धो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्धयोगिराट् । ६७ ।

गते न शोकं विभवे न वाञ्छा
प्राप्ते न हर्षं स करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो
न बाध्यते कालपथेन नित्यम् । ६८ ।

विश्वातीत (संसार में व्यापक परब्रह्म) परमेश्वर से जो निर्विकल्प समाधि में अभिन्न, तद्रूप अथवा तदाकार हो जाता है, वह योगी है। जो अपने मन की समस्त वृत्तियों को आत्मा में लय कर लेता है, वही सिद्धों के सिद्धान्त में परम शक्तिशाली महायोगी के रूप में सम्मानित होता है। जो विषयप्रपंच से रहित हो जाता है, सदा इस तरह उदासीन होकर शान्त रहता है, अपने स्वस्वरूप में स्थित रहकर उसका (चैतन्यरूप में) प्रकाशक होता है, जो सच्चिदानन्द में स्थित होकर नित्य कूटस्थ--असंग रहता है, वही सिद्धयोगिराज कहा जाता है। जो अखण्डचेतनस्वरूप होता है, सदा द्वन्द्वातीत होकर प्रसन्न रहता है, जो स्वाश्रित होता है अथवा समस्त प्रापंचिक उपाधियों से परे होकर नित्य अखण्ड स्वरूप में अधिष्ठित रहता है, जो निर्विकार और आनन्दस्वरूप होता है, वही सिद्ध योगिराज है। वह किसी पदार्थ अथवा धन आदि के नष्ट हो जाने पर शोक नहीं करता, सम्पत्ति आदि प्राप्त करने की उस (योगिराज) में वांछा नहीं होती, न प्राप्त होने पर उसे हर्ष होता है, अपने स्वसंवेद्यस्वरूप में वह परमानन्द में लीन रहता है, उसे मृत्यु से कोई बाधा नहीं रहती ।। ६४-६८ ।।

सर्वसिद्धान्तदर्शनसन्मवयी

एवं तु सर्वसिद्धान्तदर्शनानां पृथक् पृथग् भूतानामपि ब्रह्मणि समन्वयसूचनशीलोपदेशकर्ताऽवधूत एवं कर्ता सद्गुरुः प्रशस्यत एषामुपदेशानां पृथक् पृथक् सूचितानां जायते यत्र विश्रान्तिः सा विश्रान्तिर्विधीयते । ६९ ।

लीनतां च स्वयं याति निरुत्थानचमत्कृतेः ।
यतो निरुत्थानमयात् सोऽयं स्यादवधूतराट् । ७० ।
तस्मात्तं सद्गुरुं साक्षात् वन्दयेत् पूजयेत्सदा ।
सम्यक् सिद्धपदं धत्ते तत्क्षणात्स्वात्मभाषितम् । ७१ ।

न वन्दनीयास्ते काष्ठा दर्शनभ्रान्तिकारकाः ।
वर्जयेत्तान् गुरून् दूराद् धीरः सिद्धामताश्रयः । ७२ ।

इस तरह समस्त मतों का—सिद्धान्तों का परब्रह्म सच्चिदानन्द में समन्वय—सम्यक् तात्पर्य का बोध करानेवाला अवधूत सद्गुरु ही प्रशंसनीय है । समस्त दर्शनों के मत में समन्वय के द्वारा इन उपदेशों से वास्तविक विश्रान्ति की उपलब्धि होती है । विश्रान्तिरूप (समन्वयात्मक) निरुत्थान --निर्विकल्प समाधि से शोभित परब्रह्म परमेश्वर में योगी लीनता को प्राप्त करता है—ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, वह इससे योगिराज हो जाता है, इसलिये ऐसे परब्रह्मस्वरूप योगी की ही वन्दना-पूजा करनी चाहिये । ऐसा करने पर योगसाधक अपने गुरु के ज्ञानोपदेश से तत्क्षण सिद्धपद प्राप्त कर लेता है । जो ब्रह्मदर्शन--स्वरूपबोध कराने में, सदुपदेश देने में असमर्थ हैं और शिष्यों को द्वैतप्रपंच में उलझाकर दिग्भ्रमित करते रहते हैं, उन अविवेकी (बुद्धि से जड़) गुरुओं का सिद्धमत पर चलनेवाले साधकों द्वारा दूर ही से त्याग करना चाहिये, वे अज्ञान-अन्धकार में भरमाने वाले गुरु किसी भी स्थिति में वन्दनीय नहीं हैं ।। ६९—७२ ।।

सिद्धमत का आश्रय

वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया
भाट्टाः कर्मकलाकुला हतधियो द्वैतेनवैशेषिकाः ।
अन्ये भेदरता विवादविकलाः सत्तत्वतो वञ्चिता-
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् । ७३ ।

(महायोगी गोरखनाथजी ने सिद्धमत--योगमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है, सिद्धामृत मार्ग की ही वरणीयता पर विशेष बल दिया है ।) वेदान्ती कर्मोपासना आदि का त्याग कर शब्दजाल—प्रमाण आदि का आश्रय ग्रहण कर द्वैतवाद का खण्डन करते हैं और अद्वैत का मण्डन करते हैं, उनकी मति कठोर तर्कों से ग्रसित रहती है और वह निदिध्यासन से बहिर्मुख हो जाती है । (यद्यपि वे मायावाद का खण्डन कर जगत् को मिथ्या और ब्रह्म को सत्य कहते हैं तथापि माया में भ्रमित होकर अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मतत्व से वंचित रहते हैं ।) पूर्वमीमांसक केवल यज्ञादि कर्म में तत्पर रहते हैं । वैशेषिक आदि दर्शनों के मर्मज्ञ द्वैताग्रह से सद्बुद्धि को कुण्ठित कर देते हैं, इसी तरह अन्य मत-मतान्तरों

के अनुयायी अपने-अपने मत का दृढ़ समर्थन करने में विवाद प्रस्तुत करते हैं और सत्स्वरूप के बोध से वंचित रहते हैं, इसलिये श्रेष्ठ योग-मार्ग पर चलने वाले निष्ठावान् साधक को द्वैताद्वैतविवर्जित सत्सिद्धान्त—सिद्धमत का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये । समरसकरण—जीवात्मा-परमात्मा में निरुत्थान, विश्रान्ति-द्वारा ऐक्य-स्थापना, अभेदता ही सिद्धसिद्धान्त है ।। ७३ ।।

सांख्या वैष्णववैदिकाविधिपराः संन्यासिनस्तापसाः
सौरा वीरपराः प्रपञ्चनिरता बौद्धाजिनश्रावकाः ।
एते कष्टरता वृथा पथगताः सत्तत्त्वतो वञ्चिता
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् । ७४ ।

सांख्यदर्शन में निष्ठा रखने वाले सांख्यमतावलम्वी, वैष्णव, वैदिक, आचार-विचार में प्रवृत्ति रखने वाले, संन्यासाश्रमी, तपस्वी, सूर्यके उपासक, वीरशैव, सांसारिक विषय—प्रपञ्च में प्रवृत्त, बौद्ध और जैन आदि स्वसंवेद्य परमात्मस्वरूप से वञ्चित (दूर) होकर प्रपञ्च-जाल में ही उलझे रहते हैं, इसलिये योगसाधक को सिद्धसिद्धान्त का अनुगमन करना चाहिये ।। ७४ ।।

आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसा
नानातीर्थनिषेवका जपपरा मौनेस्थिता नित्यशः ।
एते ते खलु दुःखभारनिरताः सत्तत्त्वतो वञ्चिता
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् । ७५ ।

अनेक शिष्यों को मन्त्र-दीक्षा प्रदान करनेवाले गुरुजन—आचार्य यज्ञयागादि हवन-कर्म से मुक्ति का सम्पादन करनेवाले, दिगम्बर, तापस, अनेक तीर्थों में भ्रमण करनेवाले, जपकरनेवाले, मौनव्रत सदा धारण करनेवाले—सब-के-सब व्यर्थ दुःख के भार से आक्रान्त रहते हैं, उन्हें सत्स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो पाती, इसलिये योगनिष्ठ साधक को समरसकरणभाव (सिद्धसिद्धान्तमत के अनुरूप स्वरूपबोध की प्राप्ति के मार्ग) का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये ।। ७५ ।।

आदौ रेचकपूरकुम्भकविधौ नाड़ी यथाशोधितं
कृत्वा हृत्कमलोदरे तु सहसा चित्तं महामूर्च्छितम् ।

पश्चादक्षरमव्ययं परकुले चोङ्कारदीपाङ्कुरे
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् । ७६ ।

जिन्होंने सबसे पहले रेचक, पूरक और कुम्भक की विधि से प्राणायाम का अभ्यास कर नाड़ियों का अच्छी तरह शोधन (शुद्धि) किया, हृदय-कमल में मन को अच्छी तरह आत्मस्वरूपमें लीन कर ओङ्काररूपी दीप की ज्योति में अकार, उकार, मकार—अक्षर (अव्यय-परम सिद्धदायक मन्त्र) का जप कर परमात्मामें चित्त स्थिर कर सगुण-साकार ध्यान से क्रममुक्ति प्राप्त की, उन्हें भी स्वसंवेद्य परमपद का बिना सामरस्य के अनुभव नहीं हो सका, इसलिये योगसाधक को सिद्धसिद्धान्तसम्मत सामरस्य की प्राप्ति कर परमपद में स्थित होने के लिये उसी (सिद्धसिद्धान्तसामरस्य) का आश्रय ग्रहण करना चाहिये ।। ७६ ।।

चार्वाकाश्चतुराश्च तर्कनिपुणा देहात्मवादे रताः
ते सर्वे न तरन्ति दुःसहतरं ये ते परं सात्विकाः ।
ते सर्वे प्रभवन्ति ये च यवना पापे रता निर्दयाः
तेषामैहिककल्पमेव हि फलं तत्त्वं न मोक्षं पदम् । ७७ ।

नीरस, व्यर्थ लौकिक तर्क में व्यामुग्ध और देह को ही आत्मा माननेवाले प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चावार्कमतानुयायी, परलोक के फल-भोग से वंचित रह कर अपारसंसार-सागर से पार नहीं हो पाते, जब सात्विक वृति वाले नहीं पार हो पाते तो इन रजोगुणियों की सामर्थ्य ही क्या है । इसी तरह तमोगुणीहिंसा आदि कर्म में तत्पर यवनादि भी क्षणिक विषयसुख का भोग कर लेते हैं, मोक्षपद की तो (स्वप्न में भी) ऐसे लोगों के लिये आशा ही नहीं है ।। ७७ ।।

निरुत्थानरूप परमपद

श्रीहट्टे मस्तकान्ते त्रिपुटपुटविले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे
भ्रू नेत्रे नासिकाग्रे श्रवणपथरवे घण्टिकाराजदन्ते ।
कण्ठे हृन्नाभिमध्ये त्रिकमलकुहरे चोड्डियाने च पीठे
एवं ये स्थानलग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् । ७८ ।

समस्त सरस्वती, लक्ष्मी, शक्ति आदि निधियों के केन्द्रस्थान (श्रीहट्ट) सहस्रार में त्रिकोणाकारयन्त्र के छिद्र ब्रह्मरन्ध्र में, ललाटमें, दोनों भौंहों के नेत्र में, नासिका के अग्रभाग में, श्रवणपथ में (प्रवाहित ध्वनि—नाद के स्थान में), घण्टिका के छिद्र—कण्ठकूप, कण्ठचक्र, हृदयचक्र, नाभिचक्र, त्रिकोणाकार कमल, उड्डियानपीठ में ध्यान करनेवाले भी परमपदरूप निरुत्थान—सामरस्यपूर्वक विश्रान्ति (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं कर पाते हैं ।। ७८ ।।

गोल्लाटे दीप्तिपुञ्जे प्रलयशिखिनिभे सिद्धजालन्धरे वा
शृङ्गाटेज्योतिरेकं तडिदिवतरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले ।
भालान्ते विद्युदाभे तदुपरि शिखरे कोटिमार्त्तण्डचण्डे
ये नित्यं भावयन्ते परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् । ७९ ।

दीप्ति (प्रकाश) से ज्योतित (मस्तक के ही स्थान-विशेष) गोल्लाट में, प्रलयकाल की अग्नि-शिखा के समान जालन्धर स्थान—शृंगाट में, ब्रह्मनाड़ी के भीतर, बिजली की आभा से युक्त मस्तक के अन्त (मस्तकान्त)में, उसके ऊपर करोड़ों सूर्य के समान प्रभायुक्त शिखरप्रदेश में जो बिजली के समान तरल ज्योति के ध्यान में तत्पर होते हैं, उनके लिये भी परमपदरूप निरुत्थान (मोक्षपद) दुर्लभ है ।। ७९ ।।

लिङ्गाद् दण्डाङ्कुरान्तर्मनपवनगमाद् ब्रह्मनाड्यादिभेदं
कृत्वा विन्दु नयन्तः परमपदगुहां शङ्खगर्भोदरोर्ध्वम् ।
तत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डोक्रमेण
ये कुर्वन्तीहकष्टान् परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् । ८० ।

लिङ्ग से मेरुदण्ड में मन और प्राणवायु (पवन) के प्रवेश से सुषुम्नानाड़ी का भेदन कर वीर्य को भ्रमरगुफामें शंखविवर के ऊपरी भाग में ऊर्ध्वमुख कर अथवा प्रविष्ट कर वज्रोली क्रिया के द्वारा उसे (वीर्य को) स्थापित कर व्यापक नाद प्रस्फुटित करनेवालों के लिये परमपदरूप निरुत्थान (मोक्षपद) दुर्लभ है ।। ८० ।।

सम्यक् चालनदोहनेन सततं दीर्घीकृतां लम्बिकां
तां तात्वन्तखेशितां च दशमद्वारोदरे सन्धिनीम् ।

नीत्वा मध्यमसन्धिसंघटघटात् प्राप्तां शिरोदेशतः
पीत्वा षड्विधपानकाष्ठभजनं वाञ्छन्ति ये मोहिताः । ८१ ।

(महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि खेचरी मुद्रा की भी सिद्धि क्यों न हो जाय, पर निरुत्थान के बिना यह भी निष्फल है ।) जो अच्छी तरह चालन-दोहन-क्रिया के द्वारा जीभ को दीर्घ कर तालु के अन्त में दशम द्वार—भ्रूमध्य में ले जाकर (। उसमें उसे—जिह्वा को संयुक्त कर) सहस्रार से द्रवित अमृत का षड्रसरूप पान करते हैं और खेचरी मुद्रा की सिद्धि कर लेते हैं, वे भी यदि निरुत्थान—परमपद की प्राप्ति की इच्छा करते हैं, तो भ्रमित हैं । उन्हें भी निरुत्थान नहीं प्राप्त हो सकता ।। ८१ ।।

गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुध्वानिलं मध्यमं
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्ष्यकरणैर्नानासमाध्यासनैः ।
प्राणापानगमागमेन सततं हंसोदरे संघटा
एवं येऽपि भजन्ति ते भवजले मज्जन्त्यहो दुःखिताः । ८२ ।

गुदास्थान—मूलाधार से पश्चिम-पूर्व-पथ में इडा और पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित प्राण को रोक कर सुषुम्ना में प्रविष्ट प्राणवायु को ऊर्ध्व कर ध्यान-समाधि आदि विभिन्न साधनों से प्राण-अपान के गमनागमन पर दृष्टि स्थिर कर जो नाड़ी-समूहों में ही ध्यान में तत्पर रहते हैं, वे भी समरसकरण के बिना निरुत्थानरूप परमपद की प्राप्ति न करने से दुःखी रहते हैं, संसारसागर में डूबते रहते हैं ।। ८२ ।।

शक्त्याकुञ्चनमग्निदीप्तिकरण त्वाधारसंपीडनात्
स्थामात्कुण्डलिनीप्रबोधनमतः कृत्वा ततो मूर्धनि ।
नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमधः कुर्वन्ति तस्याश्च ये
खण्डज्ञानरतास्तु ते निजपदं तेषां हि दूरं मतम् । ८३ ।

जो शक्तिचालनी मुद्रा के अभ्यास द्वारा एड़ी से मूलाधार को दबाकर मूलबन्ध सिद्धकर अग्नि प्रदीप्त कर (तथा अपानवायु का ऊर्ध्वाकर्षण कर) कुण्डलिनी को प्रवुद्ध कर पूर्णगिरि पीठ में ले जाकर शिवशक्ति के साक्षात्कार में आनन्दित होते हैं और तत्पश्चात् कुण्डलिनी को (ध्यान हटाते समय) मूलाधार में ही उतार लाते हैं, वे ऐसा करके खण्डज्ञान—अपूर्ण आत्मबोध ही प्राप्त करते हैं,

उनके लिये भी अखण्ड ज्ञानस्वरूप निरुत्थान-पद की प्राप्ति कठिन है, क्योंकि वे परमात्मध्यान की अवस्था में रह कर फिर प्रपञ्च-लोकव्यवहार में उतर आते हैं ॥ ८३ ॥

बन्धं भेदश्च मुद्रां गलबिलचिबुकाबद्धमार्गेषु वह्नि
चन्द्रार्कासामरस्यं शमदमनियमानादविन्दुं कलान्ते ।
ये नित्यं मेलयन्ते ह्यनुभवमनसाप्युन्मनीयोगयुक्तास्ते
लोकान्भ्रामयन्ते निजसुखविमुखाः कर्मदुःखाध्वभाजः । ८४ ।

मूलवन्धादि, षट्चक्रभेदन और मुद्रा के अभ्यास से ठोड़ी को वक्षःस्थल से जालन्धरबन्धपूर्वक संयत कर कण्ठ-छिद्र के प्रतिरोध से समस्त नाड़ीमार्गों के रुक जानेपर प्रज्वलित अग्नि तथा चन्द्र और सूर्य (इडा-पिंगला में प्रवाहित अपान और प्राण) के सुषुम्णा में मेल से शमदमादिनियमोंके पालन और नादबिन्दु कलाओं के अन्तस्वरूप सहस्रार में शिव-शक्ति के ऐक्यपूर्वक उन्मनी अवस्था की सिद्धि करने पर भी जो योगी निजस्वरूप—परमपदरूप निरुत्थान के सुख से विमुख होकर ज्ञानोपदेश द्वारा लोगों को भ्रमित करते हैं, वे स्वरूपबोध न होने से नितान्त दुःखी रहते हैं ॥ ८४ ॥

अष्टाङ्ग योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखीचक्रभेदं
ऊर्ध्वाधो वायुमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतोव्याप्तिसारम् ।
दृष्ट्या ये वीक्ष्यन्ते तरलजलसमं नोलवर्णं नभो वा
एवं ये भावयन्ते निगदितमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः । ८५ ।

जो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूप अष्टांगयोग का अभ्यास कर आचार्य-गुरुके द्वारा विधिपूर्वक उपदिष्ट मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र का भेदन कर प्राण-अपान वायु को सुषुम्ना मार्ग से उर्ध्वमुख करते हुए सूर्य की प्रभा के समान अखण्ड ज्योति को सम्पूर्ण रूप से नासाग्रदृष्टि स्थिर कर ध्यान में देखते हैं तथा नीले रंग वाले आकाश का ध्यान करते हैं, ऐसे प्रसिद्ध योगसाधक भी निरुत्थानरूप परमपद की प्राप्ति से वञ्चित रहकर दुःखी होते हैं ॥ ८५ ॥

आदौ धारणशङ्खधारणमतः कृत्वा महाधारणम्
सम्पूर्णं प्रतिधारणं विधिबलाद् दृष्टिस्तथा निर्मला ।

अर्धोलो बहुलीहवासनमथो घण्टावसन्नौलिका
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा भ्राम्यन्ति खिद्यन्ति ते । ८६ ।

योगशास्त्र में निरूपित तथा आचार्यद्वारा निर्दिष्ट ज्ञान के बल से जो पहले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की पाँच धारणाओं में आकाशधारणा, पराकाशधारणा और महाकाश-धारणा तथा तत्वाकाश (सम्पूर्ण पाँच तत्वों की) धारणा पूरी कर ध्येय (आत्मस्वरूप परम लक्ष्य) में दृष्टि स्थिर करते हैं तथा षट्कर्म—अर्धोली (धौति), वासन (वस्ति) नेति, नौलि, कपालभाति तथा त्राटक आदि करते और दूसरों से भी इनका अभ्यास कराते हैं, वे भी सत्स्वरूप निरुत्थान की प्राप्ति से वंचित रह कर भ्रमित और खिन्न रहते हैं ।। ८६ ।।

शङ्खक्षालनमन्तरं रसनया ताल्वोष्ठनासारसं
वान्तेरुल्लुठनं कपाटममरीपानं तथा खर्परी ।
वीर्यंद्रावितमात्मजं पुनरहो ग्रासं प्रलेपश्च वा
ये कुर्वन्ति जडास्तु ते नहि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम् । ८७ ।

शंखनाड़ी का शोधन कर रसना से तालु, ओष्ठ और नासारस को निकाल कर इस तरह भीतर के समस्त चक्रों का शोधन करने के उपरान्त, कपाट मुद्रा-भेदन के अभ्यास में तत्पर होकर खर्पर धारण कर अमरीपान करनेवाले तथा उसका शरीर में लेप कर स्फूर्ति प्राप्त करनेवाले जड़बुद्धि भी इस तरह स्थित रहकर सामरस्यरूप परमात्मपद की प्राप्ति से वंचित रहते हैं ।। ८७ ।।

घण्टाकोहलकालमार्दुलमहाभेरीनिनादं यदा
सम्यङ्नादमनाहतध्वनिमयं शृण्वन्ति चैतादृशम् ।
पिण्ड सर्वगतं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽपि वा
तेषां सिद्धपदं ततः समुचितं नैवं परं लभ्यते । ८८ ।

जो प्राणायाम की सिद्धि कर प्राण, विन्दु और मन को ऊर्ध्वगामी कर शिवशक्ति के साक्षात्कार के लिये उनका पारस्परिक लय सम्पादित कर व्यष्टि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में निरन्तर घण्टा, कोहल, कांस्य, ढोल, महाभेरी के अनाहत

ध्वनिमय सरस, मृदुल निनादित नाद का श्रवण करते हैं, वे भी अखण्ड ज्योतिः-स्वरूप परमात्म पद की प्राप्ति करने में असमर्थ होते हैं ॥ ८७ ॥

वैराग्यात् तृणशाकपल्वलजलं कन्दं फलं मूलकं
भुक्त्वा यो वनवासमेवभजते चान्ये च देशान्तरे।
बालोन्मत्तपिशाचमूकजडवच्चेष्टाश्च नानाविधाः
ये कुर्वन्ति पदं विना मतिबलं भ्रष्टा विमुह्यन्ति ते। ८९।

जो वैराग्य ग्रहण करने पर पत्ती के शाक, तृण, पल्वलजल (जलाशय) के तथा कन्दमूल, फल का सेवन करते हैं, एकान्त में निवास करते है और अनेक देश-देशान्तर में भ्रमण कर बालवत्, उन्मत्त, पिशाच, मूक, जड़वत् होकर अपनी अनेक चेष्टाओं से लोगों को आश्चर्यचकित करते हैं, वे भी बिना आत्मज्ञान का बल प्राप्त किये इस संसार में मोहित होते रहते हैं ॥ ८९ ॥

कन्थादर्शनमद्भुतं बहुविधं भिक्षाटनं नाटकं
भस्मोद्धूलनमङ्गकर्कशतरं धृत्वा च वर्षं त्वरेत्।
क्षेत्रं क्षेत्रमटन्ति दुर्गमतरे स्थित्वाऽथ सर्वेन्द्रियं
नो विन्दन्ति परं पदं गुरुमुखाद् गर्वेण कष्टाश्च ते। ९०।

विचित्र (रंगबिरंगी) गुदड़ी धारण कर भिक्षा माँगते हुए तथा विभूति आदि से शरीर को उद्धूलित कर उसे कर्कश—शीत, धूप, वर्षा के आघातों को सहने योग्य सिद्ध कर जो कितने ही वर्ष बिता देते हैं और इन्द्रियों को वश में कर दुर्गम तीर्थक्षेत्रों और तपःस्थलियों में निवास करते हुए गुरु के शरणागत होकर भी उनसे सद्ज्ञानोपदेश नहीं प्राप्त करते, अहंकारवश वे परमपद से वंचित होकर कष्ट पाते हैं ॥ ९० ॥

वाणीं ये च चतुर्विधां स्वरचितां सिद्धैश्च वा निर्मितां
गायत्रींचतुराश्च पाठनिरता विद्याविवादे रताः
नो विन्दन्ति तदर्थमात्मसदृशं खिद्यन्ति मोहाच्छलात्
दण्डैः कर्तरिशूलचक्रलगुडैर्भाण्डाश्च दुष्टाश्च ते। ९१।

जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणी में अनुभूतियुक्त हैं, अथवा सिद्ध पुरुषों द्वारा अथवा अपने ही द्वारा रचित स्तोत्र, सिद्धान्त आदि में पारंगत हैं, गायत्री मन्त्र के जप में तत्पर हैं, स्तोत्रादि का पाठ करते रहते हैं, शास्त्रार्थ में तत्पर रहते हैं, वे भी यथार्थ अखण्ड आत्मज्ञान--व्यष्टिपिण्ड और ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्म स्वरूप को न जानकर खेद करते हैं तथा हाथ में दण्ड, कुल्हाड़ी, त्रिशूल, चक्र और लाठी आदि धारण करते हैं और मिथ्या स्वाँग बना कर विदूषक का आचरण करते हैं, वे भाँड़ और दुष्ट हैं, क्योंकि यथार्थ अखण्ड स्वरूप में उनका प्रवेश नहीं हो पाता है ।। ६१ ।।

एवं शून्यादिशून्यं परमपरपदं पञ्चशून्यादिशून्यं
व्योमातीतं ह्यनाद्यं निजकुलमकुलं चाद्‌भुतं विश्वरूपम् ।
अव्यक्तं चान्तरालं निरुदयमपरं भासनिर्नाममैक्यं
वाङ्मात्राद् भासयन्तोबहुविधमनसोव्याकुलाभ्रामितास्ते ।६२।

(महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि शून्यवादी केवल वाणी मात्र से शून्यवाद का प्रतिपादन कर और दूसरों के प्रति उसका कथन कर यथार्थ आत्मतत्व का स्पर्श तक नहीं कर सकते हैं ।) शून्यादि शून्य परमपर पद पञ्चशून्यादिशून्य है (पाँच भूतों में पृथ्वी और जल में शून्य है, जल और तेज के मध्य में शून्य है, तेज और वायु के मध्य में शून्य है, वायु और आकाश के मध्य में शून्य है और आकाश शून्यरूप है), व्योमातीत, अनादि, अकुल, कुल, अद्‌भूत, विश्वरूप, अव्यक्त, अन्तर्व्याप्त, (सब में व्याप्त), सूक्ष्म, उत्पत्तिरहित, नामरूप से रहित है--इस तरह वे केवल कथन करते रहते हैं और दूसरों को शून्यवाद का उपदेश देते हैं, ऐसे लोग मन में व्याकुल और भ्रमित रहते हैं, क्योंकि वे परमपद से वञ्चित रहते हैं ।। ६२ ।।

आज्ञासिद्धिकरं सदा समुचितं सम्पूर्णभाभासकं
पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम् ।
भ्रान्तेर्निर्हरणं सुखातिसुखदं कालान्तकं शाश्वतं
तन्नित्यं कलनोज्झितं गुरुमयं ज्ञेय निरुत्थं पदम् । ६३ ।

निरुत्थानरूप अलख निरञ्जन, द्वैताद्वैतविवर्जित स्वसंवेद्य परमपद ही ज्ञेय है। यह पद अन्योपदेश-निरपेक्ष अखण्डस्वरूप है, स्वानुभवैकगम्य है, अच्युत है, ध्रुव है, समस्त प्रकाशों--सूर्य, चन्द्र आदि का प्रकाशक है, व्यष्टि-पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापक है, रागद्वेषरहित, निर्विकार, सत्सिद्धान्तस्वरूप है, संसाररूप भ्रम का निवारक है, नित्यस्वरूप मोक्षानन्द प्रदान करनेवाला है, नित्य—अकाल, महाकालरूप परमेश्वर है, शाश्वत है, सनातन है, संकल्पातीत है, परमात्मस्वरूप गुरु द्वारा ज्ञेय है--गुरुज्ञानस्वरूप है। यह परमपद ही परमाश्रय है ॥ ९३ ॥

आदेश का स्वरूप

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे।
त्रयाणामैक्यसंभूतिरादेश इति कीर्तितः ।९४।
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयापहाम् ।
यो योगिनं प्रति वदेत् स यात्यात्मानमैश्वरम् ।९५।

(जिसके प्रति 'आदेश' शब्द व्यवहृत होता है, उसकी 'आदेश' के उच्चारण द्वारा ब्रह्मस्वरूपता का प्रतिपादन होता है।) आत्मा, परमात्मा, और जीवात्मा के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि तीनों की एकता की सम्भूति-- उत्पत्ति (अभिन्न सत्ता) ही 'आदेश' के रूप में प्रसिद्ध है। 'आदेश' परमात्म स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली सद्वाणी है, इसके उच्चारण मात्र से जरा-मरण, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि समस्त प्रपंचात्मक द्वन्द्वों का क्षय--नाश हो जाता है। जो प्राणी योगी के प्रति 'आदेश, आदेश' शब्द का व्यवहार करता है, वह परमात्मा और आत्मा के अभिन्न स्वरूप को तत्वतः जान लेता है ॥ ९४–९५ ॥

विशेष—अपने प्रापंचिक विचार में हम आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा में भेद करते हैं। तीनों की एकता ही सत्य है और इस सत्य का अनुभव या दर्शन ही आदेश कहलाता है। 'आदेश' के उच्चारणपूर्वक अभिवादन से योगी निरन्तर एक-दूसरे को जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य का स्मरण कराते हैं।

'आदेश' का क्या उपदेश है, इस सम्बन्ध में महायोगी गोरखनाथ ने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के चरण में जिज्ञासा की तो गुरु ने कहा--

इसका तात्पर्य यह है कि आदेश सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मपद का प्रतिपादक परम उपदेश है।

'गोरखबानी' में 'रहरासि' नामक अत्यन्त लघु रचना में गोरखनाथजी का कथन है :

'ॐ आदेस आदेस अलष अतीतं'

केन उपनिषद् में आदेश को परमात्मतत्व का सांकेतिक उपदेश स्वीकार किया गया है :

'तस्यैष आदेशो यदेतद्'
(केन उ० ४ । ४)

श्रीगोरखनाथजी ने जोधपुराधीश महाराज मानसिंह को आदेश का स्वप्न में तत्त्वोपदेश दिया था––

नाथार्थोऽस्तु तवादेशो विदेशश्चास्तु वैरिणाम्।
प्रदेशश्चास्तु भक्तानामुपदेशस्तु मे सदा॥

नृसिंहोत्तरतापिनी-उपनिषद् में भी आदेश के सांकेतिक तत्वस्वरूप शान्त, अद्वैत शिवस्वरूप का प्रतिपादन हुआ है।

'अथ तस्यायमादेशो मात्रश्चतुर्थो व्यवहार्य प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत ॐकार आत्मैवसंविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद।'
[नृसिंहोत्तरतापिनी खण्ड २]

आशादहनं भसितं कुण्डलयुगलं विचारसन्तोषः।
कौपीनं स्थिरचित्तं खर्परमाकाशमात्मनो भजनम्। ८६।

जिस योगी ने आशा-तृष्णा को जलाकर भस्मरूप कर दिया है, उसके अंग में तृष्णादहनरूप भस्म ही विभूति-धारण है, उसके कान के दोनों कुण्डलरूप में आत्मविचार और संतोष ही विशोभित हैं, स्थिरचित्त होना ही उसके द्वारा

कौपीन धारण है, हृदयाकाश में स्वरूप-चिन्तन ही उसके द्वारा हाथ में खर्पर का धारण है, आत्मा में अवस्थान—स्वरूपावस्थान ही उसके लिये भजन है, परमपद का बोध है।

सिद्धसिद्धान्तरूप योगशास्त्र

एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम् ।
सिद्धान्तं सर्वसारस्य नानासङ्केतनिर्णयम् । ९७ ।
सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
आत्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देहनाशनम् । ९८ ।
न देयं परशिष्येभ्यो नान्येषां सन्निधौ पठेत् ।
न स्नेहान्नबलाल्लोभान्नमोहान्नाताच्छलात् । ९९ ।
न मैत्रो भावनाद्दानान्नसौन्दर्यान्न चासनात् ।
पुत्रस्यापि न दातव्यं गुरुशिष्यक्रमं विना । १०० ।

सिद्धसिद्धान्तरूप यह सत्योगशास्त्र महादिव्य है, अपने-आप में निगूढ़ रहस्य है, परमेश्वरस्वरूप है, समस्त तत्वों का एकमात्र सुनिश्चित सिद्धान्त है और अनेक तत्सम्बन्धी संकेतों का निश्चयात्मक निर्णय है, सिद्धों द्वारा प्रत्यक्ष किया गया महायोग ज्ञान है, स्वसंवेद्य पद—स्वरूपावस्थान में प्रतिष्ठित करनेवाला है, स्वरूपानन्द प्रदान करता है, यह नित्य, सनातन ज्ञान है, समस्त सन्देहों—तत्व के विषय में शंकाओं का उच्छेद करनेवाला है। इस योगशास्त्र का उपदेश उनको नहीं देना चाहिये, जो अन्य मार्गी हैं, इसका ऐसे लोगों के समक्ष पाठ तक नहीं करना चाहिये, जो दूसरे मत-मतान्तरों में भ्रमित हैं। किसी के प्रति अपार स्नेह हो, उसे भी इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। कोई बलपूर्वक अथवा लोभ दिखा कर अथवा मुग्ध कर अथवा छल प्रकट कर भी इसको ग्रहण करना चाहे, उसके लिये भी यह निषिद्ध है। मैत्री-भावना के वश होकर, किसी के रूप-सौन्दर्य या सत्कार से भी आकृष्ट होकर इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। अपने प्रिय पुत्र तक को भी इस योगज्ञान का उपदेश नहीं देना चाहिये, जब तक वह सिद्धमत की विधि से गुरुमन्त्र ग्रहण कर उपदेश प्राप्त करने का पात्र नहीं बन जाता है ।। ९७—१०० ।।

सत्यवन्तो दयाचित्ता दृढ़भक्ताः सदाचलाः ।
निस्तरङ्गा महाशान्ताः सदा ज्ञानप्रबोधकाः । १०१ ।
भयदैन्यघृणालज्जातृष्णाशोकविवर्जिताः ।
आलस्यमदमात्सर्यदम्भमायाच्छलोज्झिताः । १०२ ।
अहंकारमहामोहरागद्वेषपराङ्मुखाः ।
क्रोधेच्छाकामुकासूयाभ्रान्तिलोभविवर्जिताः । १०३ ।
निःस्पृहा निर्मला धीराः सदाऽद्वैतपदेरताः ।
तेभ्यो देयं प्रयत्नेन धूर्तानां गोपयेत्सदा । १०४ ।

जो सत्स्वरूप आत्मज्ञान का आदर करनेवाले सत्यवादी हैं, दूसरों के दुःख से द्रवित होनेवाले दयालु हैं, परमात्मा में श्रद्धा रखते हैं तथा अपने स्वरूप में अचल (निष्ठा रखनेवाले) हैं, जो इन्द्रियों और मन को वश में रखनेवाले शान्त और ज्ञान की चर्चा में रत रहते हैं, जो भय, दीनता, घृणा, लज्जा, तृष्णा, शोक आदि से रहित हैं, आलस्य, मद, मत्सर (द्वेष), दम्भ और दिखावट आदि से दूर हैं, जो अहंकार, मोह, राग, द्वेष आदि से रहित हैं, जिनमें क्रोध, कामुकता, परछिद्रान्वेषणवृत्ति (दोष-दर्शन की प्रवृत्ति), भ्रान्ति, लोभ आदि नहीं हैं, जो निःस्पृह, निर्मल चित्त वाले और योगसाधन में निष्ठावान् हैं तथा अखण्ड आत्मस्वरूप अद्वैतपद में स्थित हैं, उन्हीं को यह योगज्ञान प्रयत्नपूर्वक प्रदान करना चाहिये । धूर्तों से इस ज्ञान को गुप्त रखना चाहिये ।। १०१--१०४ ।।

निन्दका ये दुराचाराश्चुम्बका गुरुतल्पगाः ।
नास्तिका ये शठाः क्रूरा विद्यावादरतास्तथा । १०५ ।
योगाचारपरिभ्रष्टाः ते निद्राकलहप्रियाः ।
स्वस्यकार्ये परानिष्ठा गुरुकार्येषु निःस्पृहाः । १०६ ।
एतान् विवर्जयेद् दूरे शिष्यत्वेनागतानपि । १०७ ।
सच्छास्त्रं सिद्धमार्गश्च सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः ।
न देयं सर्वदा तेभ्यो यदोच्छेच्चिरजीवनम् । १०८ ।
गोपनीयं प्रयत्नेन तस्करेभ्यो धनं यथा ।

तेषां यो बोधयेन्मोहादपरीक्षितमन्दधीः । १०९ ।
नहि मुक्तिर्भवेत्तस्य सदा दुःखेन सीदतः ।
खेचरी भूचरी चैव शाकिनी च निशाचरी । ११० ।
एतासामद्भुतं शापः सिद्धानां भैरवस्य च ।
मस्तके तस्य पतति तस्माद् यत्नेन रक्षयेत् । १११ ।

जो योगमार्ग के निन्दक हैं, दुराचारी और कामुक हैं, गुरु के घर में निवास कर उसकी पत्नी आदि में कामासक्त हैं, जो वेदशास्त्र और परलोक में अनास्था रखनेवाले (नास्तिक) हैं, जो शठ, क्रूर और व्यर्थ वाद-विवाद में समय का दुरुपयोग करते हैं, जो अपने स्वार्थ-साधन में ही व्यस्त रहते हैं और गुरु द्वारा निर्दिष्ट कार्यों की अवहेलना करते हैं, यदि ऐसे लोग शिष्यत्व ग्रहण कर ज्ञानोपदेश प्राप्त करने के लिये शरणागत हों, तो इनको अपने पास नहीं आने देना चाहिये, दूर से ही ऐसे अश्रद्धालुओं का त्याग कर देना चाहिये । इनको सिद्धसिद्धान्त प्रक्रियारूप सिद्धमार्ग और सच्छास्त्र नहीं प्रदान करना चाहिये । यदि दीर्घकाल तक जीवित रहने की इच्छा हो तो इनसे सच्छास्त्र—सिद्धसिद्धान्त की उसी तरह रक्षा करनी चाहिये, जिस तरह चोरों से धन की रक्षा की जाती है । जो इन शिष्यों को मोहवश बिना परीक्षा लिये (समझे) ही मन्दबुद्धि गुरु-ज्ञान प्रदान करता है, वह मुक्ति नहीं प्राप्त करता और सदा दुखी रहता है । खेचरी, भूचरी, निशाचरी, शाकिनी आदि के शाप से ग्रस्त हो जाता है और सिद्ध है, तो भैरव का शाप उसके मस्तक पर पड़ता ही है, इसलिये यत्नपूर्वक महायोगज्ञान की रक्षा करनी चाहिये ।। १०५—१११ ।।

गुरुपादाम्बुजस्थायपरीक्ष्य प्रवदेत्सदा ।
कुतो दुःखश्च भीतिश्च तत्वज्ञस्य महात्मनः । ११२ ।
कृपयैव प्रदातव्यं सम्प्रदायप्रवृत्तये ।
सम्प्रदायप्रवृत्तिर्हि सर्वेषां सम्मता यतः । ११३ ।
माग्राशङ्करनाथाय सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ।
लिखित्वा यः पठेत् भक्त्या स याति परमां गतिम् । ११४ ।

विद्धात्वर्थनिचयं भक्तानुग्रहमूर्तिमत् ।
स्मरानन्दभरं चेतो गणपत्यभिधं महः । ११५ ।

गुरु के चरणकमल में प्रणत शिष्य की अच्छी तरह परीक्षा कर (कि वह ज्ञानोपदेश का सत्पात्र है) उसे सिद्धसिद्धान्त—योगज्ञान प्रदान करना चाहिये, तत्वज्ञ महात्मा को न तो दुःख होता है, न किसी से शापित होने का भय ही रहता है । जो सिद्धमत में निष्ठा और आस्था रखता है, उसी को सत्सम्प्रदाय की रक्षा के लिये कृपापूर्वक योगोपदेश प्रदान करना चाहिये । सम्प्रदाय की प्रवृत्ति—रक्षा सर्वसम्मत है । जो शक्तिसहित शिव को प्रसन्न करने के लिये सिद्धसिद्धान्त पद्धति की रचना लिख कर श्रद्धा और भक्ति से इसका पाठ करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है । भक्तों पर अनुग्रह करने वाले तथा स्मरण मात्र से ही चित्त में आनन्द का अनुभव करनेवाले गणपति नामक मूर्तिमान् तेज इस शास्त्र के अनुयायियों को चारों पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ काम और मोक्ष से सम्पन्न करे ।। ११२–११५ ।।

इति शिवगोरक्षविरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ षष्ठोपदेशः ।।

नाथ निरंजन की आरती

नाथ निरंजन आरती साजै ।
गुर के सबदूं झालरि बाजै ।। टेक ।।

अनहद नाद गगन में गाजै ।
परम जोति तहां आप विराजै ।। १ ।।
दीपक जोति अषंडत बाती ।
परम जोति जगै दिन राती ।। २ ।।
सकल भवन उजियारा होई ।
देव निरंजन और न कोई ।। ३ ।।
अनत कला जाकै पार न पावै ।
संष मृदंग धुनि बेनि बजावै ।। ४ ।।
स्वाति बूंद लै कलस बंदाऊँ ।
निरति सुरति ले पहुप चढ़ाऊँ ।। ५ ।।
निज तत नांव अमूरति मूरति ।
सब देवां सिरि उदबुदि सूरति ।। ६ ।।
आदिनाथ नाती मछेन्द्रनाथ पूता ।
आरती करै गोरष अवधूता ।। ७ ।।

[गोरखवानी पद—६२]

हमारे महत्त्वपूर्ण विशिष्ट प्रकाशन

गोरख-दर्शन (हिन्दी) :
लें० अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, अनु० श्यामविहारी स्वरूप, मूल्य १५ रु० ।

फिलासफी ऑफ गोरखनाथ (अंग्रेजी) :
ले० आचार्य अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, मूल्य १५ रु० मात्र ।

महन्त दिग्विजयनाथ-स्मृतिग्रन्थ (व्यक्तित्व, विचार-दर्शन) :
सम्पादक : डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, मूल्य २१ रु० मात्र ।

नाथयोग :
ले० अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, मूल्य ३ रु० मात्र ।

आदर्श योगी (योगिराज गम्भीरनाथ का जीवन-चरित्र) :
ले० अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, अनुलेखक रघुनाथ शुक्ल, ५ रु० मात्र ।

योगरहस्य (योगिराज गम्भीरनाथ का विचार-दर्शन) :
ले० अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, अनुलेखक रघुनाथ शुक्ल, मूल्य ५ रु० ।

श्रीगोरक्ष-वैदिक पूजा-पद्धति :
प्रस्तुतिकर्ता तथा लेखक : वेदाचार्य रामानुज त्रिपाठी, मूल्य १ रु० मात्र ।

'गोरख' विशेषांक :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० । श्रीगोरखनाथजी के चरित्र, कृतित्व और यौगिक सिद्धि का सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन है ।

'योगासन' विशेषांक :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र ।

'गोरखवानी' विशेषांक (गोरखवानी का सटीक सम्पादन) :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र ।

'गोरखवानी' सटीक (यह ग्रन्थरूप में प्रस्तुत है) :
सम्पादक तथा टीकाकार : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र ।

'गोरक्षसिद्धान्त' विशेषांक :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र ।

'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' (गोरक्षयोगसिद्धान्त का संग्रह-ग्रन्थ) :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र

अमनस्क योग (शिवगोरक्षकृत) :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य ४ रु० मात्र ।

श्रीगोरखनाथ एवं उनकी तपःस्थली—गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर परिचायिका :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य ५ रु० मात्र ।

हठयोगप्रदीपिका (सटीक) :
सम्पादक और टीकाकार : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य ८ रु० मात्र ।

'हठयोग' विशेषांक (सटीक 'हठयोगप्रदीपिका' सहित) :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र ।

व्यवस्थापक, प्रकाशन-विभाग, गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर